Telegrams : 'ASHIRWAD'
Telephones . 31414 Srinagar
47385 JAMMU

SUPER-SELF WAYFARER'S BROTHERHOOD

FOR

SELF-RECOGNITION THROUGH NON-MEDITATIONAL MEDITATION

कश्मीर-शैवमत के एक ऋषि-आचार्य उत्पलदेव के
काव्य-संग्रह 'स्तोत्रावली' के
एक अध्याय

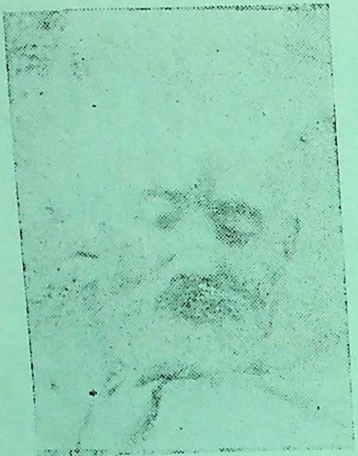
'संग्रहस्तोत्र'

का भावानुवाद

(हिन्दी और कश्मीरी)

अनुवादक :
भाईजी
(बी० एन० कौल नाज़िर)

श्रीराम-गोविन्द शैवाश्रम, फतेहकदल, रावलपोरा,
श्रीनगर, काश्मीर ।



स्वामी रामजी साहिब
(1855 ई०–1915 ई०)

स्वामी जी का जन्म काजीयार, हब्बाकदल, श्रीनगर, (कश्मीर) में पं० शुकदेव जी महाराज के यहाँ हुआ। इनके चाचा पं० ईश्वर साहिब उच्च कोटि के योगी थे। इन्होंने स्वामी जी को बचपन से ही अध्यात्म की ओर प्रवृत्त किया। इन्होंने अपनी शिक्षा-दीक्षा, आगहमाम, हब्बाकदल (श्रीनगर-कश्मीर) के पं० मनसाराम मोंगा जी से प्राप्त की। उनकी देख-रेख में ही स्वामी जी ने शैव-शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। स्वामी जी एक सिद्ध शैव साधक थे। इनके चमत्कारों की कथाएँ हर कश्मीरी जिह्वा पर हैं।

स्वामी जी एक गृहस्थ साधु थे। इनका परिवार इनके सामने ही स्वर्ग सिधार गया। इनके घर काजीयार, हब्बाकदल (श्रीनगर, कश्मीर) में आग लगने के पश्चात् इन्होंने फतेहकदल (श्रीनगर, कश्मीर) में अपना निवास-स्थान निश्चित किया, जो आज तक इनकी स्मृति में आश्रम के रूप में वर्तमान है। स्वामी जी त्रिक-दर्शन के मूर्तिमान स्वरूप थे। अनेक धर्म-सम्प्रदायों से सम्बन्धित लोग इनके यहाँ आया-जाया करते थे। इनके अनेक शिष्य हुए जिनमें से तीन अधिक प्रसिद्ध हुए—स्वामी महताब जी, स्वामी गोविन्द कौल जी, स्वामी विद्याधर जी। स्वामी महताब जी ने अपने गुरु के पश्चात् आश्रम का कार्यभार संभाला और उनके पश्चात् स्वामी गोविन्द कौल जी ने। यह आश्रम आज भी चल रहा है और यहाँ पर स्वामी जी का जन्म-दिवस, तथा अन्तर्ध्यान-दिवस बड़े धूमधाम से मनाये जाते हैं।

Telegrams :
'ASHIRWAD'

Telephones : 31414 Srinagar
47385 JAMMU

SUPER-SELF WAYFARER'S BROTHERHOOD

FOR

SELF-RECOGNITION THROUGH NON-MEDITATIONAL MEDITATION

कश्मीर-शैवमत के एक ऋषि-आचार्य उत्पलदेव के
काव्य-संग्रह 'स्तोत्रावली' के
एक अध्याय

'संग्रहस्तोत्र'

का भावानुवाद

(हिन्दी और कश्मीरी)

अनुवादक :
भाईजी
(बी० एन० कौल नाजिर)

Presented to KP Sabha,
R N Raina
3.2.2000

श्रीराम-गोविन्द शैवाश्रम, फतेहकदल, रावलपोरा,
श्रीनगर, काश्मीर ।

फरमाइश :

1. प्रो० बी० के० कौल (नाज़िर)
मेरे छोटे भाई
107, बटयार, श्रीनगर (कश्मीर)

2. श्री ओमकार नाथ भट्ट
भट्ट कार्पेट्स एण्ड फर्निशिंग्स
मौलाना आज़ाद रोड, श्रीनगर
(कश्मीर)

3. श्री एम० एल० कौल
मैसर्स एल्यकट्रिक एण्ड मैक्निकल
इन्जीनियर्स
रावलपोरा हाउसिंग कालोनी
श्रीनगर (कश्मीर)

4. श्री टी० एन० अंबारदार
भूतपूर्व सीनियर सुपरवायज़र
आयकर विभाग, श्रीनगर
(कश्मीर)

पसन्द

1. महात्मा अर्जुननाथ कौल
खुशू हाऊस इंडस्ट्रियल एस्टेट
बज़ला, श्रीनगर ।

2. महात्मा काशीनाथ
छानपोरा, श्रीनगर।

3. श्री अमरनाथ साबनी
रिटायर्ड टीचर
द्वारा धमार्थ ट्रस्ट
जवाहरनगर, श्रीनगर।

4. श्री बंसी लाल पण्डिता
असिस्टेंट मैनेजर, गवर्णमेन्ट प्रस
श्रीनगर।

क्रम :

1. श्री एस० एन० काक
चीफ अकाउन्ट्स आफिसर
जे० एण्ड के० फारेस्ट डिपार्टमेंट
श्रीनगर, (कश्मीर)

2, श्री जी० एन० रैणा
मैनेजर
कर्मचन्द थापर पेपर प्रॉडक्ट्स
जवाहर नगर, श्रीनगर (कश्मीर)

प्रकाशक :
डॉ० रोशनलाल ऐमा, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर, 190006

समर्पण

यह अनुवाद मैं 'वे फियरर्स ब्रदरहुड' के समस्त सदस्यों की ओर से हार्दिक प्रेम व आदर से समर्पित करता हूँ। मैं विशेष कर निम्नलिखित सदस्यों का आभारी हूँ जिनके यहां मैं ठहरता हूँ, और जिन्होंने परिवार समेत मेरी नि:संकोच सेवा की।

1. श्री हरवन्सलास बंसल, टी-62 व्यस्ट पटेल नगर नई दिल्ली 110008।
2. प्रोफेसर पी० एन० दर (ठस) बख्शीनगर, जम्मू 180005।
3. श्री पुष्करनाथ खर, जनरल मैनेजर एन० एच० पी० सी०, हल्दवानी (यू० पी०)—154 ए/डी गाँधीनगर, जम्मू।
4. श्री एस० के० दर, सीनियर मैनेजर, एन० एच० पी० सी०, उधमपुर 303 बी न्यू प्लाट, जम्मू।
5. श्री पी० एन० पण्डिता आइ० एफ० एस०, मैनेजिंग डाइरेक्टर स्टेट फारेस्ट कार्पोरेशन, श्रीनगर, कश्मीर।
6. श्री टी० एन० कौल असिस्टेंट इंजीनियर, जे० एण्ड के प्रोजेक्ट कन्सट्रेक्शन कार्पोरेशन, जम्मू।
7. श्री बन्सीलाल सप्रू, यू० को० बैंक, रघुनाथ बाज़ार, जम्मू 180001।
8. श्री शिबन किशन जलाली, सलाल प्रोजेक्ट, जोतीपुरम, जम्मू।
9. श्री पी० एल० ऐमा, अकौंट्स आफिसर, 869 सुभाषनगर जम्मू। 180005
10. श्री मोतीलाल काक, एस० ओ०, एलेक्ट्रिक डिपार्टमेंट, गाँधीनगर एक्सटेन्शन जम्मू।
11. श्री आर० एन० रैणा, सोनवार, श्रीनगर।

भाईजी

प्रकाशकीय वक्तव्य

नाजिर साहब .. ..भाई जी से मेरा परिचय अपने बड़े भाई साहब श्री प्यारे लाल ऐमा के माध्यम से 1983 ई० में हुआ। तब से यदा-कदा मुलाकात होती ही रहती हैं। मैं उनके निकट का व्यक्ति नहीं हूँ फिर भी वे इस पुस्तिका के लिए अनुवाद कराने में मेरे से कुछ सहायता चाहते थे जिसके लिए मै उनका आभारी हूँ।

मैं अपने स्वर्गीय पिता पंडित श्यामलाल ऐमा की पुण्य स्मृति में भाई जी की आज्ञा से इस पुस्तक को प्रकाशित कर रहा हूँ।

श्रावण पूर्णमासी
17 - 8 - 1989

रोशनलाल ऐमा

प्राक्कथन

कश्मीर शैवमत के विषय में इधर कई वर्षों से काफी कुछ लिखा गया है, किन्तु इसके आधारभूत दर्शन की जो विवेचना प्रस्तुत की गई है—वह मूल संस्कृत ग्रन्थों में प्राप्त विवरण से अधिक जटिल एवं भ्रामक ही रही है। मुझे इस बात का कोई दावा नहीं है कि मैं इस मत-विशेष का सम्पूर्ण ज्ञान कराऊँगा—बस, आशा करता हूँ कि मैं कश्मीर शैवमत के सिद्धान्तों को पाठकों के लिए थोड़ा अधिक बोधगम्य बनाने का एक विनम्र प्रयास करूँगा। मूल सिद्धान्तों में विवेचित सत्य की जिन्हें स्वयं आनन्दमयी अनुभूति प्राप्त हुई है—उन प्रतिष्ठित सन्तों अथवा विद्वानों में से किसी ने भी किसी भी आधुनिक भाषा में इस सिद्धान्त को सामान्य पाठक के लिए सहज रूप से बोधगम्य बनाने का प्रयास नहीं किया है।

इतिहास के आदिकाल से कश्मीर में प्रचलित अनेक पुराने धार्मिक सम्प्रदायों तथा पद्धतियों के समन्वयन का चरमोत्कर्ष कश्मीर शैवमत है। वास्तव में कश्मीर शैवमत, भक्ति का एक संश्लिष्ट स्वरूप है, जिससे एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त का जन्म हुआ जो अपनी अवधारणा में उतना ही परिपूर्ण है जितना कि वह युक्तियुक्त रूप से निष्पाद्य है। कश्मीर में शिव-भक्ति, ईसा से कई शताब्दियों पूर्व से ही अत्यन्त प्राचीन धार्मिक प्रथा के रूप में प्रचलित रही है। इतिहास ने हमें इस बात का ज्ञान अभी तक नहीं कराया है कि कश्मीर और 'मोंहजोदारो' के बीच अति प्राचीन काल में किस प्रकार का बौद्धिक संसर्ग रहा है—किन्तु हमारे पास मूर्तिवैज्ञानिक तथा मानवशास्त्रीय प्रमाणों का एक ऐसा भण्डार है जिससे इस तथ्य को समर्थन मिलता है कि कश्मीर आर्यों के समय में ही नहीं, धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में एक प्रकाश-स्तम्भ में रूप में प्रतिष्ठित रहा अपितु भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व ही—इसने भारत की दार्शनिक विचारधारा को आकार-प्रकार देने में न केवल अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई अपितु इस क्षेत्र का नेतृत्व भी किया।

ईसा से काफी पहले, कश्मीर में 'भागवत', 'पंचरात्र' और 'विहुवाद' जैसे मतों का प्राधान्य रहा। ऐसा लगता है कि कश्मीरी दार्शनिकों ने शैवमत को

समृद्ध कराने के लिए इन मतों को जीवन्तता प्रदान करने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों से काफी कुछ उधार लिया । समय-समय पर कश्मीर की सीमाओं के बाहर से अनेक दार्शनिक पद्धतियाँ यहाँ आती रही और कुछ समय तक कश्मीरी विचारकों को आकर्षित करती रहीं—किन्तु इन नए विचारों और सिद्धान्तों से समृद्ध एवं परिपूर्ण होकर, अन्ततोगत्वा कश्मीरी ऋषि और रहस्यवादी अपनी मूल शैव-उपासना की ओर ही पुनः मुड़ जाते ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शैवमत की मूल अवधारणा कश्मीरी ही है और समय की व्यापक धारा में एवं परिर्तवनशील सामाजिक मूल्यों के प्रकाश में इन अवधारणाओं की नई-नई व्याख्याएँ होती रहीं ।

बौद्धमत एक ऐतिहासिक आन्दोलन है और कश्मीरी दार्शनिकों ने इस धार्मिक सिद्धान्त का स्वागत किया तथा इसे एक ऐसा आकार-प्रकार प्रदान किया जिससे यह बाहरी दुनिया में प्रस्तुत होने योग्य बन सका । 'मिलिन्दपान्ह' के प्रतिष्ठित रचियता नागसेन (150 ई० पू०) कश्मीरी थे । हीनयान मत के 'थेरवाद' सिद्धान्त को एक विशिष्ट आकर्षण प्रदान करने का श्रेय इन्हीं को जाता है । 'मिलिन्दपान्ह'—ग्रीक सम्राट और इस 'थेरवादी' के बीच, बौद्धमत के कुछ विवादग्रस्त विषयों पर हुए ललित एवं वाग्मितापूर्ण वार्तालाप का एक अभिलेख है । मूलग्रन्थ कदाचित संस्कृत में लिखा गया था—जो अब मिलता नहीं—परन्तु इसके पाली और चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं । बौद्धमत के चार प्रतिष्ठित विद्वानों—अश्वघोष, आर्यदेव, नागार्जुन और कुमारलब्ध में से, कुमारलब्ध कश्मीरी थे । नागार्जुन बेरार के थे परन्तु कश्मीर में काफी दिनों तक रहकर अध्ययन करते रहे । उन्होंने ही अन्य कश्मीरी विद्वानों और विचारकों से मिलकर बौद्धमत के सुधारवादी मत—महायान का प्रतिपादन किया । कहा जाता है कि महाराज कनिष्क (78-102 ई०) ने कश्मीर में कुण्डलवन विहार (आज के हारवन के निकट) के स्थान पर बौद्धों की एक महान सभा की उपाध्यक्षता के लिए अश्वघोष को पाटलीपुत्र से बुलवाया था । यहीं पर इस पवित्र प्रदेश के विभिन्न आचार्यों के साथ मिलकर बौद्ध विचारकों ने 'धर्म के महायान' का प्रतिपादन किया । शालिमार बाग के निकट हारवन में हाल ही में कुशान काल के एक मन्दिर और कुछ अवशेषों की प्राप्ति हुई है ।

कश्मीर में इस असाधारण सफलता के बाद भी बौद्धमत बहुत दिनों तक टिक न सका । कई शताब्दियों की सुषुप्ति के पश्चात् छठी शताब्दी में शैवमत

एक बार फिर सशक्त धारा के रूप में पुनर्जागृत हुआ और इसने बौद्धमत को घाटी के बाहर खदेड़ दिया। सातवीं शती के प्रारम्भ से ही कश्मीर में बौद्धमत के पतन का सूत्रपात हुआ—इस तथ्य की पुष्टि चीनी तीर्थयात्री एवं विचारक ह्यूनसांग (631-633 ई०) ने भी की है।

आठवीं शती के अन्त तक कश्मीर में शैवमत एक मान्य धर्म के रूप में स्थापित हो चुका था। यह अब न केवल राज्य-धर्म ही था अपितु सामान्य जन का भी धर्म बन चुका था। देश के विभिन्न भागों से कश्मीर-शैवमत की विद्युत्तीय आभा से आकृष्ट होकर अनेक तत्त्वमीमांसक कश्मीर आए। कहा जाता है कि शंकराचार्य (780-812 ई०) यहाँ के महान आचार्यों से स्वयं जानकारी प्राप्त करने के लिए कश्मीर आए थे। यह मत जो नवीं शती के पूर्वार्द्ध में व्यवस्थित हुआ—शंकराचार्य के आगमन के समय अभी विकास की अवस्था में ही रहा होगा। वास्तव में "सौन्दर्य लहरी" के रचयिता शंकराचार्य अपने कश्मीर निवास के बाद एक रूपान्तरित शंकराचार्य हैं। "सौन्दर्य लहरी', 'त्रिपुरा-शक्ति' के प्रति एक भक्तिभाव पूर्ण स्तोत्र है—जो आचार्य द्वारा प्रचारित वैदिक अद्वैत-सिद्धान्त के विरुद्ध जा पड़ता है।

कश्मीर में बौद्धमत के पतन के पश्चात् ऋषि वसुगुप्त ने शैवमत को जीवित रखने के लिए नए मूल्यों की स्थापना की। परम्परा से ज्ञात होता है और इसकी पुष्टि कल्लट 'स्पन्दशास्त्र' की 'वृत्ति' में भी करते हैं—कि स्वयं भगवान शिव से वसुगुप्त को यह शिक्षा—अन्तर्ज्ञान के रूप में प्राप्त हुई थी। एक रात उन्हें गहरी मानसिक व्यथा एवं परिताप में पाया गया और दूसरे दिन सवेरे वे एक सम्पूर्ण आत्मज्ञानी सन्त के रूप में जगे और उनकी मानसिक सक्रियता नैसर्गिक रूप से निःसृत हुई—जो 'शिव सूत्रों' के रूप में सुरक्षित है। वे एक प्रबुद्ध आत्मा थे और उन्हें ही कश्मीर के आधुनिक शैवमत का जन्मदाता माना जाता है। इन सूत्रों की व्याख्या क्षेमराज और भास्कर ने क्रमशः 'शिव-सूत्र विमर्शिनी' तथा 'शिवसूत्रवार्तिक' में की है। ये सूत्र चूँकि नैसर्गिक रूप से प्राप्त माने जाते हैं—अतः इन्हें आगम कहा जाता है। ये सूत्र एक ऐसी आधार-शिला हैं, जिस पर कश्मीर के आधुनिक शैवमत का भव्य-भवन टिका हुआ है। संस्कृत में लिखे गए ये 77 सूत्र, न केवल कश्मीर शैवमत की मूल अवधारणाओं की व्याख्या निरपेक्ष अद्वैत के आधार पर करते हैं—अपितु हमारे लिए सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं की व्यावहारिक सिद्धि के मार्ग को भी

सुगम बनाते हैं। ये सूत्र प्रत्यक्षवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं और इनका व्यापक दृष्टिकोण आस्तिकवादी है। जो परम सत्य है, वही शिव है, वही महाकारण एवं महास्थिति है और सर्वभूत का चरम अन्त भी वही है। वह मूर्त चैतन्य, परम आनन्द, परम ज्ञान और परमेच्छा है। वह सर्वभूत है—लेकिन फिर भी सब से परे है। दिक्काल और रूपाकार उसे बाँध नहीं पाते—क्योंकि वह समस्त परिवर्तनों—उत्परिवर्तनों से परे है। अतः जो अस्तित्व है उसे अनस्तित्व नहीं मान सकते। हमारी पंचेन्द्रियों का व्यापक संसार उतना ही सत्य है जितना कि पर तत्व। इस सिद्धान्त के अनुसार, शिव शक्ति दोनों अभिन्न सत्ताएँ हैं। पुरुष—इस व्यापक अन्तर-वद्ध-सम्पूर्ण का अंश मात्र है—जो स्वयं शिव ही है—किन्तु जो आत्मविस्मृति की अवस्था में है अथवा मानसिक व्यामोह में पड़ा हुआ है। इस मत के अनुसार मूल—परम परिपूर्ण स्थिति पर लौटकर न तो किसी भी वस्तु की आवश्यकता है और न ही अभाव, यही स्थिति मोक्ष कहलाती है। भौतिक शरीर के साथ जुड़े रहने के कारण पुरुष तीन दोषों से ग्रस्त हो चुका है—'अन्व', 'माया' और 'कर्म'। 'अन्व मल' या दोष, वह मूलभूत अज्ञान है जिसके कारण हमसे हमारा अपना वास्तविक स्वरूप छिपा रहता है। 'मायामल' के कारण ही हम आत्मजगत् और बहिर्जगत् में भेद करते हैं। 'कर्ममल' के कारण ही हम पुण्य और पाप, अनुग्रह और अप्रसन्नता अथवा रुचिकर और अरुचिकर में भेद करते हैं। इन्हीं 'मलों' के कारण अपने भीतर का परमतत्त्व हमसे ओझल रहता है। जब इन 'मलों' का विलयन हमारे भीतर हो जाता है—हम एक बार फिर निर्मल होकर अपने भीतर परमतत्त्व की आभा को उसकी स्फटिकीय परिशुद्धता के रूप में प्रतिबिम्बित पाते हैं।

इस मत को विकसित करने में बाद के आचार्यों का काफी योगदान रहा है—जैसे भट्ट कल्लट [अवन्तीवर्मन (855-883 ई०) के समकालीन], सामानन्द [वसुगुप्त (850-900 ई०) के समकालीन], उत्पलाचार्य (900-950 ई०), रामकण्ठ (900-925 ई०), लक्ष्मण गुप्त (950-1000 ई०), अभिनवगुप्त 960-1015 ई०), क्षेमराज (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध), योगराज (बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध)। इस समस्त विकास क्रम को तीन विशिष्ट धाराओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

पहली धारा में हम सर्वप्रथम 'आगम शास्त्रों' को ले सकते हैं—जो

द्वैतवादी शैवमत के बीज ग्रन्थ माने जाते हैं। उदाहरणस्वरूप ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(1) मालिनी विजय वार्तिक—अभिनवगुप्त
(2) परात्रिमशिक विवर्ण—अभिनव गुप्त
(3) भगवद्गीता की टीका—अभिनव गुप्त
(4) विज्ञान भैरव—शिव उपाध्याय
(5) स्वच्छ-चन्द्र-उद्योत—क्षेमराज

दूसरी श्रेणी में हम स्पन्द शास्त्र को रख सकते हैं—अर्थात् वह साहित्य जो स्पन्द-या जीवन के भावात्मक तत्त्व से जुड़ा हुआ है। वसुगुप्त के प्रतिष्ठित शिष्य भट्ट कल्लट को इस विचारधारा का प्रतिपादक माना जाता है।

उदाहरणतः—

(1) स्पन्द कारिका—भट्ट कल्लट
(2) स्पन्द सन्दोहा—क्षेमराज
(3) तत्वार्थ चिन्तामणि—भट्ट कल्लट
(4) स्पन्द निर्णय—क्षेमराज

तृतीय भाग में हम प्रत्यभिज्ञा धारा को रख सकते हैं, जिसकी सुदृढ़ स्थापना सोमानन्द ने की।

उदाहरणस्वरूप—

(1) शिव दृष्टि—सोमानन्द
(2) ईश्वर प्रतिभिज्ञा—उत्पलाचार्य
(3) प्रत्यभिज्ञा हृदयम—क्षेमराज

अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' और 'तन्त्रसार' में कश्मीर शैवमत की इन तीनों विचारधाराओं का युक्ति-संगत संश्लेषण प्रस्तुत किया है।

चौदहवी शती ई० में कश्मीरी सन्त ललेश्वरी ने आम जनता के लिए कश्मीरी भाषा में शैवमत का प्रचार अपनी सूक्तियों और श्लोकों में किया। इनकी इन सारगर्भित सूक्तियों का अनुवाद ग्रियर्सन, टैम्पल, वारजई और चरागी ने किया है। जनता की सीधी-साधी भाषा में, ललेश्वरी ने इस दार्शनिक विचारधारा के गूढ़ तत्त्वों को अत्यन्त लालित्यपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया। उनके अधिकांश छन्द अत्यन्त भावपूर्ण हैं। आज भी घाटी के सभी कोनों में ये

छन्द लोगों को कण्ठस्थ हैं। वे, सैयद अली हमदानी—जिन्हें कश्मीर में लोग सामान्यतया 'शाहिहमदान' (1314-1384 ई०) के नाम से पुकारते हैं—की समकालीन थीं।

इसके बाद कश्मीर राजनीतिक उथल-पुथल, आतंक एवं भय के विविध कालों से गुजरा, जिसके विषय में इतिहास हमें काफी-कुछ बता सकता है—लेकिन इस बीच शैव-साहित्य कश्मीर की धरती से लगभग लुप्त ही हो गया।

बाद के कुछ विचारकों में भास्कर और शिव उपाध्याय के नाम प्रमुख माने जा सकते हैं। संभवतः वे कश्मीर के अफगान राज्यपाल सुखजीवन (1754-1762 ई०) के समकालीन थे। भास्कर ने उत्पलाचार्य के 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' तथा शिव उपाध्याय ने 'विज्ञान भैरव' ग्रन्थ की टीका लिखी। उन्नीसवीं शती में इन लोगों के बाद ईश्वर साहिब, टिकालाल, वोना काक और स्वामी रामजी जैसे विद्वान-सन्तों के नाम लिये जा सकते हैं। इन सबके कारण ही घाटी में इस दर्शन का एक बार फिर पुनर्जन्म सम्भव हो सका। उनकी रहस्यवादी सूक्तियों एवं उद्देश्यों से जनता को काफी प्रेरणा मिली जिससे यह विचारधारा और अधिक पुष्ट हुई। स्वामी रामजी इन सब में सर्वश्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। वे सन्त एवं संस्कृत विद्वान के एक सम्मिलित स्वरूप थे। उन्होंने श्रद्धालुओं की सर्वाधिक संख्या अपनी ओर आकृष्ट की और उनके अनेक भक्तजन उनकी व्यक्तिगत प्रेरणा एवं देख-रेख में पराकाष्ठा तक पहुँच गये। स्वामी महताब काक, स्वामी विद्याधर और स्वामी गोविन्द कोल साहिब जलाली का परिचय कराने की कोई आवश्यकता ही नहीं। उनकी स्मृति आज भी इस प्रदेश के सभी भक्त हिन्दुओं के मन में ताजा है। वर्तमान काल में घाटी के विद्वान-सन्तों में से उल्लेखनीय हैं—स्वामी लक्ष्मणजी आश्रम, इश्वर, निशात, श्रीनगर के ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी और उनके पूर्ण शिष्य स्वर्गीय जानकीनाथ, कुमारी शारिकादेवी और प्रभादेवी आदि; श्री रामगोविन्द शैवाश्रम फतेहकदल एवं रावलपोरा, श्रीनगर के पण्डित विष्णुकौल, महात्मा ताराचन्द जी, महात्मा अर्जुननाथ जी तथा महात्मा काशीनाथजी तथा स्वामी विद्याधरजी के कर्णनगर-श्रीनगर स्थित आश्रम के भक्तजन—ये कुछ ऐसे सन्त-महात्माओं के नाम हैं जिन्होंने अपनी धार्मिकता और गहन विद्वता के कारण कश्मीरी हिन्दुओं की गहरी श्रद्धा को प्राप्त किया है। इनमें से प्रत्येक ने, अपने-

अपने क्षेत्र में—आम जनता तक, इस विचारधारा को पहुँचाने का भरसक प्रयत्न किया है तथा आज भी कर रहे हैं—तथा इस प्रकार से इस मत में उन्हें अभिषिक्त करके कश्मीर शैवमत को फिर से एक सशक्त धारा बनाने के प्रयास में लगे हुए हैं। हमारा यह जातीय दर्शन धार्मिक बन्धनों से ऊपर है। कोई भी मनुष्य जाति, धर्म, रंग और सम्प्रदाय के भेदभाव से निरपेक्ष इससे लाभान्वित होकर मन की शान्ति प्राप्त कर सकता है। इसकी मूल-आस्था कैवल्य की है; जगत् एक मिथ्या विश्वास नहीं अपितु सत्य है, वास्तविक सत्य का स्वरूप है। सत्य के भिन्न-भिन्न रंग-रूप होते हुए भी इसका कोई रंग-रूप नहीं है। वह सत् है और सत् की विशेषता स्वत्व है। अहं और इदं सत् के दो पहलू हैं जैसे एक ज्योति और इसका प्रकाश। जल और इसकी आर्द्रता पृथक नहीं किए जा सकते। उसी प्रकार अहं और इदं आपस में एक हैं, पृथक नहीं। इदं ही अहं है और अहं ही इदं है और एक-दूसरे के बिना निरर्थक हैं। शिव भी शक्ति के बिना शक्तिमान नहीं और शक्ति शिव के बिना बेकार है।

शिव और पार्वती इदं और अहं की ही धारणा है। एक सूक्ष्म सिद्धान्त को सरल जन-भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। त्रिक-मत के अनुसार शक्ति को स्त्रीरूप माना गया है, क्योंकि स्त्री जाति ही प्रकृति के विस्तार का माध्यम है। शिव भी शक्तियों के द्वारा ही अपने रंग-रूप का उभार छत्तीस तत्व वाली प्रकृति में लाता है। शिव-शक्ति-संयोग का अर्थ आत्मज्ञान की अनुभूति है। आत्मज्ञान जीवन का मूल लक्ष्य है। हर एक मनुष्य के लिए यही लक्ष्य प्राप्तव्य है। यह कैसे प्राप्त हो सकता है। भौतिक जगत् का त्याग करने से नहीं, जीवन और इसके कटु सत्यों से पलायन चाहने से नहीं, आत्मा को भौतिकता के गुंजल से मुक्त कराने से नहीं; अपितु सद्विद्या और तत्त्वज्ञान से। भोग करते हुए भी, सांस्सारिक सुख-ऐश्वर्य में रत होकर भी इससे नितान्त असम्पृक्त रहना—यह एक गम्भीर विषय है। इसकी सूक्ष्मताओं और लालित्य को समझाने के लिए विस्तार से तर्क युक्त वाद-विवाद की आवश्यकता है जो किसी और सत्संगत में किया जायेगा। इस समय में केवल उदाहरणस्वरूप उत्पलाचार्य के विचार और धारणाओं का अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ। आपके विचारार्थ इस आध्यात्म के रंग-रूप, इस सूक्ष्म धारणा की सूक्ष्मता और इसका सौन्दर्य और पूर्णता।

उत्पलाचार्य कश्मीर शैवमताकाश पर ज्वाजल्यमान नक्षत्र की भाँति

प्रकाशित और प्रज्वलित हैं। इनके आरम्भिक जीवन के सम्बन्ध में जानकारी केवल इस बात तक सीमित है कि वे एक कश्मीरी ब्राह्मण उदयाकर के घर उत्पन्न हुए थे, जो 'काल-श्रीपुरा' आधुनिक कलाशपोरा, में निवास करते थे।

कल्हण की राजतरंगिणी एवं अन्य प्रामाणिक रचनाओं के अनुसार उत्पलाचार्य की साहित्यिक-आध्यात्मिक गति-विधि 900 से 950 ई० के मध्य अपने शिखर पर थी। यहाँ इस बात का निर्देश करना आवश्यक है कि उत्पलाचार्य और उनके समनाम उत्पल वैष्णव दो पृथक व्यक्ति हैं। उत्पल-वैष्णव जो अपनी कृतियों—'स्पन्दपरादीपिका' के कारण प्रसिद्ध हैं 10वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए हैं।

उत्पलाचार्य न केवल व्युत्पन्न-बुद्धि साधक थे अपितु उच्चकोटि के विचारक और कवि भी थे। वे कश्मीर शैवमत के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के पोषक थे और इस दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्तक सोमानन्द से भी उच्चतर स्थान रखते थे। इनकी दो रचनाएँ 'ईश्वर-प्रतिभिज्ञा-कारिका' और 'शिवस्तोत्रावलि' शैव-मत की दार्शनिक विचारधारा और साहित्य में महत्वपूर्ण अभिवृद्धि हैं और प्रामाणिक मानी जाती हैं। इन दोनों रचनाओं के कारण उत्पलाचार्य का स्थान एक उच्च कोटि के विचारक और बुद्धिजीवी के रूप में काफी ऊँचा माना गया है। उत्पलाचार्य अपने युग के एकमात्र प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं जिन्होंने संस्कृत में तर्कशास्त्र और छन्दशास्त्र में कुशलता प्रदर्शित की है। इनकी रचना 'प्रत्यभिज्ञा-कारिका', जो तर्कशास्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म संकेतों/रहस्यों के सम्बन्ध में एक बहुमूल्य रचना है, इतनी विस्तृत, सार्थक रहस्यपूर्ण एवं गुरु गम्भीर है कि गूढ़ शैव साधना की वर्षों के अध्ययन और अभ्यास के बिना समझना कठिन है।

इनकी दूसरी रचना 'शिवस्तोत्रावलि' बहुत प्रसिद्ध है। यह बीस छोटे-छोटे स्तुतिपरक् गीतों से निर्मित है। शैव साहित्य और संस्कृत साहित्य में स्तोत्र और स्तव की पंक्ति में ये गीत स्वयं अपने उदाहरण आप हैं। एक किवदन्ती के अनुसार उत्पलाचार्य जब मानसिक बन्धनों की सीमाओं को लाँघ-कर विस्तार की स्वतन्त्र अनुभूति में लीन हो जाते थे तो आनन्द और हर्ष में झूम-झूमकर ये गीत गाते थे और उनके शिष्य इनको लेखबद्ध करके सुरक्षित करते जाते थे और स्वयं भी आह्लादित होते थे। इन गीतों में उन्होंने अपनी

आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन, अपने मनोभावों की स्थिति, रागात्मक अनुभवों के रहस्य खोले हैं और जिस हर्षोन्माद की स्थिति से वे अविभूत होते थे उनको अभिव्यक्त किया है। एक-एक पद जीवन के एक-एक रहस्य, एक-एक मोड़, एक-एक अवस्था की अनुभूति को स्पष्ट कर देता है। इन्हीं में से एक स्तोत्र, जो 'संग्रह-स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है, का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

'शिव स्तोत्रावलि' के सारे गीतों में से इस स्तोत्र के गीत अधिक प्रसिद्ध और अधिक मनोहारी हैं। गीतों का यह स्तवक इस आध्यात्मिक गुरु की गवेषणा, मनुहारों, अश्रुओं, हृदय की टीस और उलझनों का उपहार है और अपने-आप में प्रत्येक स्तर पर अत्यन्त सुन्दर हैं। यह स्तोत्र बीस टुकड़ों का एक बहुमूल्य आध्यात्मिक निबन्ध है और हर एक टुकड़ा क्रमशः विभिन्न प्राकृतिक रहस्यों, सत्ता के विभिन्न तत्वों का प्रकाशन करता है। आध्यात्म का यह एक अनमोल स्रोत है, जिसको उत्पलाचार्य ने स्वयं ही क्रम और रूप देकर सारी 'स्तोत्रावलि' का सार कहकर 'संग्रहस्तोत्र' के नाम से अभिहित किया है।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत में अभिव्यक्त किये गये रहस्यात्मक आध्यात्म के सारतत्व को पूरी सार्थकता सहित हिन्दी के सरल माध्यम में रूपान्तरित करना बहुत ही कठिन काम है। कहीं भी न्यूनाधिक चूक हुई तो अर्थ/भाव बिगड़ जाने की सम्भावना रहती है। मैंने इस बात का ध्यान तो अवश्य रखा है कि आध्यात्मिक अनुभव या साधनावस्था उपेक्षित न होने पाये। वर्णन-व्यापार में कहीं त्रुटि हुई भी हो परन्तु विषय-व्यापार को यथासम्भव यथावत् रखने का बहुत यत्न किया गया है। फिर भी मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि अत्यन्त सतर्कता बरतने के बावजूद कई रहस्यों, वस्थाओं, अनुभूतियों का सम्यक् विश्लेषण न कर सका हूँ, जिसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। दोष मेरा होगा, मेरे सद्गुरु का नहीं।

अनुवाद में वह प्रभाव और रूप भी न आ सका जो इसमें होना चाहिए था। छन्द, चरण, तुक-लय का अभाव इसका कारण है और इसी अभाव के कारण इसमें वे राग, संगीत, व्यथा न समा सके जो मूल में हैं। हाँ यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि यह अनुवाद शाब्दिक बन्धनों से मुक्त है। केवल मूल भाव को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने का यत्न है।

इन पदों की सूक्ष्मता, आध्यात्मिक महत्व और भाव को समझने का प्रयत्न मैंने अपने वन्द्य गुरु पथ-प्रदर्शक स्वामी गोविन्द साहिब जलाली से किया है और इनकी मौखिक व्याख्या से पूरा-पूरा लाभ प्राप्त किया है। स्वामी जी सिद्ध-द्दष्टा, कर्मयोगी थे। मुझे इनकी छत्र-छाया में पूर्ण वात्सल्य और स्नेह से पनपने और फूलने का गौरव प्राप्त रहा है। पूरे दस वर्ष, निर्बाध, प्रातः-सायं ! और मैं इनकी पवित्र-स्मृति में इससे श्रेष्ठ कोई और उपहार प्रस्तुत नहीं कर सकता कि उन जैसे प्रतिष्ठित विचारक और व्यस्त योगी के विचार लोगों तक प्रेषित करने का प्रयत्न करूँ। यह मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी कि यदि मैं पाठकों और श्रोताओं के मन में इस आत्म-ज्ञान के रहस्य और साधना के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकूं।

यहाँ पर कश्मीर शैवमत के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त विवरण देना उचित समझता हूँ। प्राचीन काल में शैवमत दर्शन को आर्य साहित्य के अन्तर्गत सातवाँ दर्शन समझा जाता था। उन दिनों इसे तक्ष-शिला और शारदा के उच्च पीठों में पढ़ाया जाता था। उस स ाय यह दोनों थान कश्मीर राज्य के अंग थे।

त्रिक-दर्शन द्वारा व्यवहृत एवं प्रतिपादित मतानुसार पदार्थ आत्मा का ही रूपाकार है। आत्मा पदार्थ है और पदार्थ आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं—दोनों की सत्ता एक-दूसरे पर आधारित है। त्रिक-दर्शन मात्र एक यथार्थ में विश्वास करता है और वह है—इन्द्रिय-गोचर जगत् के तात्विक एकत्व में। आत्मा अथवा परम् शिव—जो स्वयं दीप्त सत्ता के रूप में परिभाषित किया गया है, अनेक रूप जगत् को प्रदीप्त करता है अर्थात् इस जगत् में जड़ अथवा चेतन जिस किसी भी पदार्थ का हमें बोध होता है वह कुछ भी नहीं अपितु इसी दीप्ति से निःसृत पदार्थ है। 'प्रकाश' और 'विमर्श' इस निर-पेक्ष सत्य के दो स्वरूप हैं—एक अस्तित्व है और दूसरा अस्तित्व का बोध। जो विद्यमान है वह प्रकाश है और जो विद्यमान है उसके अस्तित्व का बोध विमर्श है।

अतः इस सब का अर्थ यह है कि पदार्थ, जिसे प्रायः जड़ समझा जाता है--आत्मा का एक रूप है और चेतन प्रवृत्ति का भी उसमें समावेश है। उसमें उत्पन्न होने वाली पदार्थीय भिन्नताएँ, उसके भीतर स्थित आत्मा से प्रसूत चेतना

के विभिन्न स्तरों के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इस विचारधारा के अनुसार जड़ और चेतन पदार्थ में भेद तो बस चेतना के विभिन्न स्तर हैं। जीवित पदार्थ चेतन होने के कारण, भीतर अथवा बाह्य से प्रेरित होने पर सक्रियता की ओर प्रवर्तित हो सकता है। अर्ध अथवा अवचेतन होने के कारण जड़ पदार्थ में अपने आप किसी के प्रति प्रतिक्रिया नहीं होती अपितु उसमें केवल बाह्य शक्तियों के उपयोग होने पर ही प्रतिक्रिया होती है। हमारा शरीर जड़ पदार्थ की भाँति ही व्यवहार करता है जब उसके भीतर की चेतना को किसी आघात अथवा बेहोशी के द्वारा अचेत कर दिया जाता है।

त्रिक द्वारा प्रतिपादित जीवन-आत ा और पदार्थ के किसी एक विशिष्ट स्थान पर का प्रतिक्रियात्मक निष्कर्ष नहीं है अपितु निम्नतर से उच्चतर स्तर की ओर पदार्थ की चेतना का निरन्तर परिवर्तनशील विकास है। हम शून्य में से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि शून्य में से कुछ भी तो नहीं प्राप्त हो सकता। यदि तिल में तेल स्थित नहीं होता तो किसी भी कोटि के भारी दबाव से भी उसमें से तेल निकलने की सम्भावना ही नहीं है। स्पष्ट है कि जीवन और पदार्थ मूलतः एक हैं इनमें से कोई भी अन्य की स्थिति को प्राप्त हो सकता है। जीवन, केवल चेतना के स्तर पर ही एक प्रक्रिया है।

त्रिक-दर्शन विकासवाद में विश्वास करता है किन्तु डार्विन एवं लॉमार्क के विकासवाद में नहीं जिसके अन्तर्गत जड़ से चेतन की ओर के विकास को स्वीकारा गया है। त्रिक-दर्शन को विकासवाद का वह स्वरूप मान्य है जहाँ अतर्कपूर्णतः से तर्कपूर्णतः की ओर, निम्नतर से उच्चतर स्तर की ओर निरन्तर तब तक विकास होता है, जब तक कि हम स्वयं चेतना का मूर्तिमान स्वरूप बनते हैं। स्पष्ट है कि यह सब एक संयोग नहीं है अपितु इस सब को एक उद्देश्य की पूर्ति करनी है। पदार्थ में कुछ अन्तरभूत विशेषताओं एवं गुणों का प्रदर्शन होता है। प्रत्येक वस्तु में उच्चतर स्तर की चेतना की ओर बढ़ने की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। विकास की इस प्रवृत्ति के कारण ही जीव-जातियों में स्वभाव-परिष्करण सम्भव हो पाया है। इस दर्शन के अनुसार इन अस्सी लाख जीव-जातियों में चिरन्तन उत्परिवर्तन हो रहा है।

इस विचारधारा को प्रायः त्रिक कहते हैं क्योंकि यह प्रकृति के तथाकथित तीन स्वरूपों—शिव, शक्ति और नर, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, पति, पाश

और पशु, ईश्वर, मानव और ब्रह्माण्ड अथवा अनुभूति का विषय और अनुभूति की वस्तु की एकता में विश्वास करती है।

प्रमाता अथवा अनुभूति का विषय इस विचारधारा का केन्द्रबिन्दु है। यह दर्शन प्रमाता की गरिमा और विशिष्टता पर अधिक बल देता है। यहाँ यथार्थ स्थिति की आदर्श-परक परिकल्पना की जाती है। सार रूप में यह दर्शन मानसिक स्थिति को उतना ही महत्वपूर्ण मानता है जितना कि भौतिक स्थिति को। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर, आत्मा और पदार्थ समरूप हैं और मानव अस्तित्व का उद्देश्य यह है कि वह अलौकिक सत्ता, निज-सत्ता और अपने आस-पास स्थित सत्ता के बीच के सम्बन्धों का पता लगाये—उन्हें अनुभव करे। मानव एक तर्कशील प्राणी है—उच्चतर चेतना की देन लिए हुए, पदार्थ का एक टुकड़ा है, अतः वही केवल विकास के क्रमिक सोपानों को मानसिक स्तर पर पार कर सकता है। शिव अमर है और आत्मा भी अमर है एक निरपेक्ष है तो दूसरा अप्रतिबद्ध है—जो बद्ध अस्तित्त्व में अनुभूत एवं साकार है। संक्षेप में मानव स्वयं शिव है किन्तु वह आत्म-विस्मरण की स्थिति में है अथवा वह एक मानसिक निद्रा में डूबा हुआ है।

यह ज्ञानमार्गी दर्शन है। मोक्ष के प्रति एक बौद्धिक उपगमन है। अतः इस सिद्धान्त का उद्देश्य 'आत्म-निरोध' अथवा 'पदार्थ से आत्मा की मुक्ति' नहीं है अपितु पदार्थ को अपने भीतर की चेतना से अवगत कराना है। इस दर्शन का उद्देश्य एक ऐसा मानसिक विकास है जो निम्नतर से उच्चतर चेतना की ओर, ससीम से असीम की ओर, उदात्तीकरण प्रतिबद्ध से अप्रतिबद्ध, अव्यवस्थित से विश्व व्यवस्था के अस्तित्व की ओर प्रवृत्त करे। यह दर्शन समस्त द्वैतों के बीच मात्र एक अद्वैत से ग्रस्त हो जाने एवं तीन मलों अथवा आच्छादनों अणव, माया और कर्म से मुक्ति पाने का उपदेश देता है। यह दर्शन तीन मानसिक अपार दर्शिताओं—व्यक्ति, बहिर्जगत और बहिर्जगत के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया के जागरण की ओर निरन्तर बढ़ते रहने की प्रेरणा देता है।

बंधन जो हमें बाँधते हैं, वे सारे के सारे हमारी अपनी करनी है और जब व्यक्ति और ब्रह्माण्ड के बीच अज्ञान का लोप हो जाता है तब व्यक्ति अपने को ब्रह्मांडीय चेतना में व्याप्त पाता है। दिव्य के साथ मानव का सम्बन्ध कुछ वैसा ही है जैसा कि किसी पात्र में स्थित थोड़ी सी वायु का वायुमण्डल से है।

बन्धन तो वातावरणीय है। हमें तो बस केवल उसे पहचानना है या पुर्वानुभूत करना है जो ह। भूल गए हैं—ज्ञान, आत्मा और परमानन्द के वास्तविक स्व-रूप की अनुभूति।

अतः इस उद्देश्य की पूर्ति न तो प्रतिभासित जगत् से पलायन करके और न ही जीवन की अस्वीकृति द्वारा ही हो सकती है। हमें जीवन जीना है और इसे इसकी आत्माभिव्यक्ति विभिन्न स्वरूपों की चेतना से अवगत कराना है। यह विकास यद्यपि मानसिक है तथापि इसे संघटित करना होगा और इस अनुभूति से हमारे अस्तित्व के किसी भी अश को विलग नहीं किया जा सकता। दिव्य के साथ लगाई जाने वाली सर्वोच्च धारणा, इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी धारणा नहीं है। हमें तो केवल अपने-आप को इस तैयारी में रखे रहना है जिससे भीतर अथवा बाहर से आने वाली किसी भी चेतना को हम ग्रहण कर सकें। इस सिद्धान्त के अनुसार दिव्य शक्ति केवल हमारे भीतर ही कुण्डली मारे नहीं बैठी है अपितु भीतर, बाहर, ऊपर, नीचे, हर कहीं से प्रदीप्त होती है। यह सिद्धान्त परिष्कार में विश्वास करता है न कि निरोध में। इस सिद्धान्त में विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की अति-नैतिक विचारधारा का समर्थन नहीं हुआ है। यहाँ कोई भी कर्म पाप नहीं है, यदि उसे सन्तुलन के आधार पर किया गया हो न कि निम्न-वृत्तियों के तुष्टि-करण के लिए।

इस उद्देश्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? दिव्य के प्रति अपने आपको सम्पूर्णतया समर्पित करके ही तो। दिव्य हमारे भीतर वास करेगा, हमारे साथ समंजित होगा और हमें अपने आधिपत्य में लेगा।

मैं आशा करता हूँ कि कश्मीर शैव-दर्शन के इस संक्षिप्त विवरण से आपको उन सब आह्लादपूर्ण अनुभूतियों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होगा जिनके माध्यम से आप अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके प्रफुल्लित हो उठेंगे—जहाँ पहुँचकर आप अपने ही भीतर अंकुरित होकर विकसित होंगे और जहाँ आपको अपने भीतर स्थित दिव्य के दर्शन होंगे।

ये स्थितियाँ किसी भी प्रकार से आपके लिए असाधारण अथवा असामान्य नहीं हैं। आप इन सब से भली-भाँति परिचित हैं किन्तु आपने स्वयं अपने ही गलत व्यवहारों और मनोवृत्तियों के याद में, झूठे मूल्यों और भ्रांत अव-

धारणाओं के चक्कर में फँसकर जान-बूझकर इन्हें पदावनत करके पीछे धकेल दिया है। आप अपनी इस खोई महिमा को पुनः प्राप्त कर सकते हैं—ठीक उसी वाभाविकता के साथ जिस स्वाभाविकता के साथ पक्षी हवा में उड़ान भरता है अथवा मछली जल में तैरती है। किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं, किसी परिष्कार की खोज नहीं और न किसी योजना के संयोजन की आवश्यकता है। आपको बस जीवन और जीवन-यापन के प्रति निराशाजनक मनोवृत्ति का वहिष्कार कर देना है। जीवन जीना है। जीवन की सम्पूर्ण एवं मुक्त अभिव्यक्ति के लिए यह संसार ही एक-मात्र स्थान है। हमें इसकी सम्पूर्णता से अभिभूत होना है—बस अपने झूठे अहं को जमा देना होगा और मन को शून्य बनाकर रखना होगा। शून्य की दीवारें नहीं और न ही उसके कोई कोने ही हैं। शून्य का विलयन शून्य में हो जाता है जब उन्हें अलग-अलग करने वाले अवरोध नहीं होते।

अपने आप से भागना अथवा जीवन से विमुक्त होने का अर्थ है मुख्य स्रोत-धारा से विमुख होना। हमें उस सबसे जूझना है जो हमारे भीतर-बाहर है किन्तु फिर भी अपनी आत्मा के साथ एकाग्र होकर अकेले ही रहना है। सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानना है जो ब्रह्माण्ड में यहाँ, वहाँ और हर कहीं—चतुर्दिक स्पन्दित होकर प्रकाशमान है, गतिशील है—यही 'योग' है और अपने जीवन की भटकन में क्षण-प्रतिक्षण इससे जूझना 'साधना' है। शेष सब निरर्थक है। इनसे बाधाएँ भी उपस्थित हो सकती हैं। मैं असंगत बात नहीं कर रहा हूँ और न अश्रद्धा की। अपने इस जीवन में अनेक धार्मिक यातनाओं से गुजरने के पश्चात् अब यह मेरी कल्पना है, मौज है—एक स्वप्न चित्र है।

इस अनुवाद को रूपायित करने में मेरे कई मित्रों ने मेरी सहायता की—इनमें से में हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर के प्रोफेसर रोशनलाल ऐमा तथा जम्मू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डॉ० प्राणनाथ त्रिछल का विशेष आभारी हूँ। मैंने इन दोनों के साहित्यिक ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। प्रोफेसर ऐमा ने इस पुस्तिका के सम्पादन तथा प्रकाशन का सम्पूर्ण भार अपने स्वर्गीय पिता पंडित श्यामलाल ऐमा की पुण्य-स्मृति में स्वयं अपने मन से उठाया है। राम-गोविन्द शैवाश्रम के मेरे आदरणीय गुरु-भ्राता महात्मा अर्जुननाथ जी, महात्मा काशीनाथ जी और शारिका संस्था-

हारी पर्वत के मेरे प्रियतम मित्र श्रीमान अमरनाथ जी सावनी और श्री जानकी नाथ जी रैणा का भी मैं आभारी हूँ ।

मैं श्रीमती कमला कौल (रियाज़ी) व श्रीमती बसोनी (बसन्ती) कौल (नाज़िर) का विशेष रूप से आभारी हूँ । उन्हें जो कुछ भी अपनी पूज्य माता श्रीमती सती देवी वैष्णवी (प्रसिद्ध नाम) सअंपकुजी दास से उत्तराधिकार में प्राप्त चल सम्पत्ति के रूप में मिला था, सहायता पेक्षी लोगों के कल्याण के लिए समर्पित करके मुझे सौंप दिया, यद्यपि यह राशि कुछ अधिक न थी परन्तु मेरे अगणित हितैषी यथाशक्ति समय-समय पर इसमें वृद्धि करते रहे और आज तक कोई दो लाख रुपये से सहायता की गयी है । कन्याओं के विवाह पर, चिकित्सा, पढ़ाई, मृत्यु-संस्कार पर अत्यन्त गुप्त रूप से किसी रोकड़ रसीद के बिना यह सहायता उपलब्ध होती रही है और आशा है कि यह क्रम चलता ही रहेगा । जीवन से यही मंगलाशा है कि यह सेवा यथाशक्ति इसी भाँति अन्तिम क्षण तक करने की शक्ति रखे और प्रेरणा रहे । इसी सिद्धान्त के आधार पर इस पुस्तिका का मूल्य आपके दुःखों का उपहार है, वह हमें प्रदान करें और प्रकाशक से यह पुस्तिका मँगवा लीजिए । जितनी चाहिए उपलब्ध होंगीं । और अन्त में यह पुस्तिका उनको भेंट करना गौरव समझता हूँ जिनके मुझ पर व्यक्तित्व की दृष्टि से बहुत से उपकार हैं और जो इस समय मेरे साथ इस संसार में विद्यमान नहीं हैं—पूज्य पिता प्रोफेसर जियालाल कौल नाज़िर और आदरणीय माता श्रीमती सगर देवी कुजिमाली कौल, प्रिय गिरिधरी लाल भान—भूतपूर्व सहायक अभियन्ता, पी० एच० ई०-जम्मू और दुहिताओं कुमारी रीता कौल एवं डॉ० नीरजा कौल ।

इस पाण्डुलिपि को मूलतः प्रोफेसर पी० एन० दर के जम्मू स्थित निवास स्थान पर मैंने तैयार किया है—इस सम्बन्ध में इस परिवार के सभी सदस्यों ने मुझे सभी सुविधाएँ प्रदान कीं, यहाँ पर उन सब के प्रति आभार प्रकट करना अपना पुण्य कर्त्तव्य समझता हूँ ।

मेरे व्यक्तिगत अनुभव में जो कुछ भी आज तक आया है—मैंने उसे प्रस्तुत करने की कोशिश की है । यही मेरा निरीक्षण है, ठीक है या गलत है, जो कुछ भी है—यही है । आपकी व्यक्तिगत सम्मति, जो कुछ भी हो—बुरी या भली, उसकी प्रतीक्षा रहेगी—बेरोक लिखें, कृतज्ञ रहूँगा । धन्यवाद ।

श्रीनगर, 5 **मार्च**, 1989, **महाशिवरात्रि** । **—भाईजी**

ॐ स्वात्मनये नम :

श्रीमत ईश्वरीय प्रतिभिज्ञान्याकार चक्रवर्तीय आचार्य उत्पलदेव रचित संग्रहस्तोत्रम् ॥

● ● ●

संग्रहेण सुखदुःखलक्षणम्
मां प्रति स्थितमिदं श्रणु प्रभो ।
सौख्यमेव भवता समागमः
स्वामिना विरहेव दुःखिता ॥१॥

भौतिक स्वरूप को भूल
निज-लीन होता हूँ जब
अपने चिन्मय स्वरूप में
तो होता है उन्मेष
सुख का, उल्लास का, हर्ष का, अह्लाद का ।
नहीं रहता है ज्ञान जब
अपने इसी चिद् स्वरूप का
तो खो जाता हूँ
दुःख की अगाध गहराइयों में ॥
सुनो ! मेरे स्वामी !
यही संक्षेप में हैं
लक्षण—
मेरे सुख के !
मेरे दुःख के !

---

1. **शब्दार्थ**—प्रभो—हे स्वामी, श्रणु—सुनिए, संग्रहेण—संक्षेप में, प्रति—मुझ में सुख और दुःख का लक्षण जो, स्थिम्—ठहरा हुआ, इम—‍ है, भवता— आपके साथ, एषः—यह (साक्षात्कार में), समागमः—मिल (मिलन) ही, सौख्यम्—सुख है, स्वामिना—आप स्वामी का, विरहएव- विरह ही, दुःखिता—दःख है ।

(हे प्रभो ! संक्षिप्त में मुझ में स्थित सुख तथा दुःख का जो अनुभव है वह सुनिए। आपके चिद् स्वरूप के साथ साक्षात्कार का अनुभव करते समय मुझ में विकास तथा आनन्द का स्फार होता है। ऐसी अवस्था में स्वामी के समागम रूपी ऐक्यावस्था में मैं परिपूर्ण सुख का अनुभव करता हूँ। परन्तु आपसे विलग होने पर मैं दुःख अनुभव करता हूँ। अर्थात् अज्ञानावृत अवस्था दुःख का कारण है तथा ज्ञान-दीप के प्रकाशित होने पर अज्ञान का आवरण नष्ट होने पर ही परम्-शान्ति रूपी सुख अनुभव होता है।)

उत्पल स्वगत ओस वनान स्वात्म दोवस

सोख ति दोख रटित सुक्याह ओस प्यठ पानस

वनान ओसुस यि छ़ोट पाठि वनित्य चि बोज़तम
कमि रंगि रूपि यिम म्य बुथि यिवान छिम
चानि रूपि ठहरावय च्य निश म्य सोख छुम
दूर्यर यि यथ विमर्श अदि म्य दुख छुम
उत्पल स्वगत ओस वनान स्वात्म दोवस

सोख ति दोख रटित सुक्याह ओस प्यठ पानस ॥

● ● ●

अन्तरप्यतितरामणीयसी
या त्वदप्रथनकालि कास्ति मे।
तामपीश परिमृज्य सर्वतः
स्वं स्वरूपममलं प्रकाशय ॥२॥

---

2. **शब्दार्थ**—ईश—हे स्वामिन्, त्वत्—आपके वास्तविक स्वरूप को, अप्रथन—न दिख पड़ने वाला, कालिका—मैलापन (मलिनता) (अज्ञान रूप), योऽ—जो, मे—मुझे, अतितराम्—बहुत अधिक, अणीयसी—सूक्ष्म भी, अन्तर—समावेश में (प्राणादि संस्कार रूप), अस्ति—है, तामपि—उस मलिनता को भी, सर्वतः—पूर्ण रूप में, परिमृज्य—हटाकर, स्वं—ऐसे अपने, अमलं—निर्मल, स्वरूपम्—सुन्दर रूप को, प्रकाशय—(प्रकाशित) प्रकट कीजिए।

क्षीण हुआ है यद्यपि
प्राण आदि मल मुझ में
फिर भी दूर रहता हूँ
हे इश्वर तुमसे !
सीमाएँ घेर लेती हैं
सभी ओर से
असफल होता हूँ
ऐक्य स्थापित करने में स्वचित स्वरूप से !
पोंछ डालो अब उस मलिनता को
दूर कर दो मेरे अपूर्ण ज्ञान को
मिटा दो इन सीमाओं को
यतः पाऊँ स्वस्वरूप समावेश को
सारे जगत में
अन्तर भी !
और बाहर भी !

(इस स्तोत्र में शरीर के उन्मज्जन और निमज्जन का संकेत है :—

प्राणादि रूपी संस्कारों से उत्पन्न सूक्ष्म मलिनता के कारण ही मेरे भीतर आपके चिद्स्वरूप का समावेश हो नहीं पाता । हे प्रभो ! मेरे देह से इस मलिनता को हटाकर, मेरे अन्तर बाह्य में अपना निर्मल स्वरूप प्रकट करके अभिन्न रूप से मुझ ससीम को असीम बना दीजिए ।)

परान आधि बासि रूपि बुनि युस म्य सक्षिम मल
वुछनय दिवान म्य युसनि नोन चि निर्मल

सुइ मल म्य गालि तन युथ वुछहत यि साफ त नोन
चयथ प्रकाश रूपि चिई चोपारि शोलुवुन !!

उत्पल स्वगत ओस वनान०.........

● ● ●

तावके वपुषि विश्वनिर्भरे
चित्सुधारसमये निरत्यये ।
तिष्ठतः सततमर्चतः प्रभुम्
जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे ।।३।।

विश्व तुम हो और तुम विश्व हो
चिन्मय है तेरा स्वरूप
नहीं आबद्ध तुम्हारा स्वरूप
देशकाल की सीमाओं से !
समाविष्ट रहता हूँ यद्यपि तुम्हीं में
फिर भी निरन्तर पूजा करता हूँ ।
वह दिव्य ज्योति
चिन्मय बना देती है जो मुझे
रहे प्रदीप्त मेरे अन्तर सदैव ही
यदि तुमको समा सकता अपने में
तो जीवन की
या मृत्यु की,
या मृत्यु पार की गाथा
कौन कहता ? किसे कहता ?
क्यों कहता ?
और किससे कहता ?

(यहाँ भक्तशिरोमणि अपनी उत्कृष्ट आकांक्षा का प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं । प्रथम तथा दूसरे स्तोत्र में कहे हुए आधार पर स्वामी के अविनाशी चित्

---

3. **शब्दार्थ**—विश्वनिर्भरे—समस्त जगत से भरे हुए, चित्सुधारसमये—चित्त आनन्द रूपी अमृतमय, निरत्यये—अविनाशी, तावके—आप प्रकाश रूप के, वपुषि—स्वरूप में, तिष्ठतः—ठहरे हुए, सततम—निरन्तर (सदा), प्रयुम्—स्वामी का, अर्चतः—पूजा करता हुआ, में—मेरा (देह), जीवितं—जीवित रहते हुए, अथवा—या, मृतम—मरकर, अथ—या, अन्यत्—किसी अन्य अवस्था में अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में ।

और आनन्दपूर्ण स्वरूप से सारा विश्व व्याप्त है। अतः मैं निरन्तर अचल स्थिति की अवस्था पाकर (समाविष्ट होकर) आपकी पूजा (विमर्श) करता हुआ आप-चित् स्वरूप में समाविष्ट हो जाऊँ तथा मुझे इस बात की को भी चिन्ता नहीं है कि मैं जीवित रहूँ या शरीर त्याग करूँ या इस शरीर क कुछ और अवस्था हो जाए। इस स्तोत्र से चित्त रूपता में स्थित रहने के लि आन्तरिक (मानसिक) एवं शारीरिक अवस्थाओं के लिए अनादर का संके किया गया है।)

च्यथ रूपि आत्मदीवि युस स्वरूप यि चोन छुई
विश्व रूप सुई आसित ति नाशि रूस सुई छुई

आसिथ ब्व च्य मंज च़ेई सति म्य रूज़ितन
एक भावि सुरूपक कुनि विज़ि न च्य़न
पूज़ायि यछ़ि चानि रूज़ितन यि हुई म्य तेह

अदि आसि कुनि जिन्द मुरदि या तमि योर तिकेहं ॥
उत्पल स्वगत ओस वनात०.............

● ● ●

ईश्वरोऽहमेव रूपवान
पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः ।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते
मानिता त्वदनुरागिणः परम् ॥४॥

---

4. **शब्दार्थ**—अहम् ईश्वरः—मैं ही ईश्वर हूँ, (अहमऐव) रूपवान—मैं ह सुन्दर स्वरूप वाला हूँ, पण्डितोऽस्मि—ज्ञानवान हूँ, सुभगोऽस्मि—मैं ही सबक प्यारा हूँ (सर्वप्रिय), जगति—जगत में, सत्समः मेरे समान, अपरः कः—दूस अस्ति—कौन है, इति—इस प्रकार, मानिता—मान भाव करना अर्थात् अप को सर्वोत्कृष्ट समझना, त्वत—आपके (त्रियात्मा के), अनुरागिणः—प्रेमी क (जो आप से पूर्ण रूप आसक्त है), परम—केवल, शोभते—शोभित है, ।

मैं पूर्ण हूँ,
स्वतन्त्र हूँ
चिन्मय ज्योति हूँ
ज्ञानी हूँ
और रूपाकार हूँ
परमानन्द रस से पूर्ण हूँ
सबके लिए स्पृहणीय हूँ
कौन है संसार में और मेरे समान ?
अभिमान की यह भावना
आभूषण है उनके लिए
जो हैं समावेश में लीन
अपने चितस्वरूप से !

(जीवन तथा मरण आदि अवस्थाएँ देहाभिमानमय होती हैं तथा मैं शरीर से भिन्न हूँ मेरा वास्तविक स्वरूव देह से परे है अतः इस सम्बन्ध में वे कहते हैं—

मैं ईश्वर (सब से स्वतन्त्र) हूँ, रूपवान (चिदात्मक) हूँ। पंडित अर्थात् परमार्थ तत्त्व जानने वाला हूँ, तथा सुभगा, आनन्द रूपी रस से भरा हुआ हूँ। इससे अधिक क्या कहूँ, इस संसार में अर्थात् दृश्य जगत में मेरे समान अन्य कोई नहीं है, परन्तु ऐसा अभिमान केवल चित्स्वरूप परमात्मा से निरन्तर राग करने वालों को शोभा देता है।)

पण्डित ब्व कुन छूस काँछिवुन त सुन्दर
शूभिदार ब्व शूभि कुनि छुस जगतस अन्दर
मेयि रोस दोयुम कुस युस वनि ब्व ईश्वर
च्यथ विकासि रूपि भयि सुई पानि शक्तीश्वरि

चोनुई भखित युस आसि यछि पारज़ान
अभिमान करुन यि तस वोपज्यथ छु शूभान ।।
उत्पल स्वगत ओस वनान०............

● ● ●

देव देव भवदद्वयामृता—
ख्याति संहरणलब्ध जन्मना ।
तद्यथास्थित पदार्थ संविदा
मां कुरुष्वचरणर्चिनीचितम् ।।५।।

भूलकर अभिन्नता के अज्ञान को
पाऊँ ! हे देव !
परिचय
स्वचित स्वरूप का !
और होवे ज्ञान वह
कि देखूँ न भिन्न किसी को
स्वचित स्वरूप से
और बनूँ योग्य
आपके चरणों की पूजा का !

(उपरोक्त कथन तो आपने भक्तों के ही युक्त है। अतः हे चलाचल रू, जगत के अधिपति ! आपके साथ ऐक्य रूपी आनन्द की अप्रकटता (असमर्थता) का संहार करने से आपका चित्स्वरूप नित्योदित रहता है। जिसने यह संवित् अवस्था प्राप्त की है, उस संवित् अवस्था में सभी जानने योग्य पदार्थों का यथा-स्थित चिद्रूप में जाना जाता है—उसी ज्ञान से मुझे अपने चरणों की शक्ति (किरणों) की पूजा (विमर्श) के योग्य बना दीजिए।)

ही देवन ति हिन्दि देवि भेदि व्रथ म्य गलिना
।
युथ अद्वैत अमृत व्यथि चवुन ब्व रोज़हा
पनुनई प्रकाश ब्व नोन प्रथ तरफि वुछना

---

5. शब्दार्थ—देव देव—हे देवताओं के देवता, भवत्—आप की, उद्वयामृत्—एकता के अनुपम अमृत के आनन्दमय, अख्याति—न देखने की परिस्थिति को, संहरण—हटाकर, लब्धजन्मना—आपके दर्शन करने से ऐसे जन्म (अवस्था) को पाकर, तद्याथास्थित—केवल चित्त स्वरूप, पदर्थ—पदार्थों के, संविदा—संवित (ज्ञान से) मां—मुझे अपने, चरणार्चिन—चरणों की पूजा के, उचितम—योग्य बनाओ ।

यथ ज्ञानि रूपि क्रीड़ा प्रथ साति करिहा ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०.............

● ● ●

ध्यायते तदनु दृश्यते ततः
स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम्
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे
सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः ॥६॥

बिना किसी उच्चार के
केवल चित के चिन्तन से,
साक्षात्कार और समावेश पाऊँ, ध्यान में स्थित होकर
निज चिन्मय स्वरूप का !
हूँ जिस स्थिति में,
हो वही मुझे आनन्द तेरी अर्चना का
है प्रार्थना यही मेरी, हे देव !
रहूँ सदा निमज्जित इसी स्थिति में।
अनुभव से !
निज चिद् रूप के प्रताप से !

(हे चिदीश्वर ! मैं स्वयं ही सहजावस्था में अर्थात् बिना किसी आयास के आपका ध्यान करने पर आपको देख सकूँ तथा आपसे एकता प्राप्त कर सकूँ। यही स्वात्म रूपी आपकी पूजा है। इसी पूजा का सौभाग्य मुझे सदा प्राप्त हो और यह महोत्सव मुझे नित्य प्राप्त हो।)

---

6. **शब्दार्थ**—यत्र—जहाँ, परमेश्वरा—परमेश्वर को, ध्यायते—किसी उचार रहित चित्त से ही, दृश्यते—समावेश में प्रकट करो, स्पृश्यते—अत्यन्त मिलाप से एक होना, महोत्सवा—बड़ा उत्सव, मे—मुझे, अस्तु—हो, पूजन—पूजा के, स्वयं—किसी उपाय के बिना, तदनु—उसके, ततः च—और उसके, सः—वही, पूजन—पूजा का, भवता—आपकी, सर्वदा—हमेशा (हर समय)।

कुनि वोपायि रोस्तुई च्यथ पनुन ब्व चेनिना।

चीनिथ ब्व तीमय प्रथ दम्ह रोज़ना

पूज़ायि चानि हुन्द महिमा यि ज़ि युथ ह्यु ह

मेलिवुन म्य रूज़तन स्वतः स्यद्ध स्वलभ सू ॥

उत्पल स्वगत ओस वनान०............

● ● ●

यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं
युष्मदर्चन महोत्सवश्च यः ।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं
भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते ॥७॥

अपने स्वरूप में
चिर चिन्मय अभिन्नता का उन्मेष
होता है जिसे
भौतिकों का तत्वबोध
और तुम्हारी पूजा
तुम्हारी अर्चना
जो है विलय निज ससीम अस्तित्व का
अपने असीम चिद् रूप में,
हैं यह दोनों

---

7. **शब्दार्थ**—यत्—जो, यर्थात्—घटिपटादि सारे चीजों का, यथास्थित्—अपने वास्तविक रूप में चिदात्मक, दर्शनम्—ज्ञान, यः च—और जो, युष्मदर्चन—आपकी पूजा का, महोत्सवा—बड़ा उत्सव है, एतत युग्मं—यह दोनों, इतरतेराश्रयम—एक-दूसरे के आश्रित रहकर अर्थात् विषयों से भगवत्प्राप्ति ऐसे ही ज्ञान् में पदार्थों को देखना, भक्ति शालिषु—उच्च भक्तों में, सदा विजृम्भते—सदा विकास में आते हैं ।

आश्रित एक-दूसरे पर
तेरे भक्तों के लिए !
तेरे अनुयायियों के लिए !

(पदार्थों का प्रकाश रूप देखना और प्रकाश का विमर्श करना आपकी पूजा के दो प्रकार हैं। प्रथम पूजा आपकी विश्वमय रूप में और दूसरी विश्वोत्तीर्ण रूप में है। आपके भक्त भावोत्तेजना के समय में इन दोनों रूपों—जो एक-दूसरे पर निर्भर हैं, में सदा विकसित रहते हैं।)

पनिनि रूपि जगतस वुछनूई त ज़ानुन
या भक्ति रूपि चोन स्वरूप लोल् सान यि ललिवुन
आश्रित यिम अख अकिस दोशवुन छु सार कुनि
भक्ति छ पाज़ यिम जोनुई यि सर छु कुन ॥

उत्पल स्वगत ओस वनान०..........

● ● ●

तत्तादिन्द्रिय मुखेन सन्ततं
युष्मदर्चन रसायनासवम
सर्वभावचषकेषु पुरिते—
ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः ॥८॥

पीने दो मुझे, हे प्रभो !
मदिरा स्वस्वरूप साक्षात्कार की,

---

8. **शब्दार्थ**—परितेषु—भरे हुए, सर्वभाव—सब भाव (पदार्थों) रूपों में, चषकेषु—प्यालों में, तत तत्—उन सब में, इन्द्रिय मुखेन—इन्द्रिय (नेत्रादि) के द्वारा, सन्ततम—निरन्तर, युषमद्—आपकी, अर्चन—पूजा से, रसायन—एक विशेष (आनन्द रूपी रस), आसवम—की मदिरा, आपिवन—पूरी तरह पीता हुआ (आस्वादन) करता हुआ, उन्मदः—आपके प्रेम का मतवाला, (हर्षवाला, आनन्दवाला), भवेयम—बन जाऊँ।

और पीता रहूँ सत्त इसे,
भाव-भरे प्यालों में
हर एक इन्द्रिय के मुँह से
और पीकर हो जाऊँ
पूर्ण मदहोश !
तो समा जाऊँ
सागर में
अपने उल्लास के !!

(चितरूपी आँसू संसार की पदार्थ रूपी प्यालियों में भरा हुआ है। क्यों न मैं हर समय, हर प्रकार से तथा हरेक इन्द्रिय द्वार से इसे पीता रहूँ और उसी नशे में उन्मत्त हो जाऊँ, मस्त रहूँ।)

चानि स्वरूपि्च मस्ती योसि प्रथ मंज़
भारि भारि यि व्यधि रूपि ज़न खास्यन मंज
च्यवुवुन ब्व सुई प्रथ जायि शायि रोज़िहा
प्रथ द्वारि किन अदि कुनि छिवुह हा ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०..........

● ● ●

अन्यवेद्यमणु मात्रमस्ति न
स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते ।
यत्र नाथ भवतः पुरेस्थितिम्
तत्र मे कुरु सदा तवार्चितुः ॥९॥

---

9. **शब्दार्थ**—हे नाथ—हे स्वामी, पुरे—चिदानन्द रूपी पुरी (नगरी) में, अन्य—आपके बिना अन्य वस्तु, वेद्यम्—नहीं जान पाता हूँ, अणुमात्रमऽपि—लेष मात्र भी, नास्ति—नहीं है, यत्र—जिस स्वरूप में, अखिलम—यह समस्त विश्वप्रपंच (संसार), स्वप्रकाशं—स्वप्रकाश रूप होकर ही, विजृम्भते—चमकता हुआ है, तत्र—उसी, पुरेस्थितिम—आनन्द पुरी में, भवतः—आपकी, तर्वाचितु—आपका पूजन करने वाला, मे—मुझे, सदा—हर समय, कुरू—कर लीजिए अर्थात् बना लीजिए ।

इस चिन्दानन्द रूपी नगर में
नहीं है भिन्न तुम से
कुछ भी !
प्रदीप्त रहता है जो सदा
निज चित्त के ताप से
निज आभास से
ले चल, वहीं मुझे
हे नाथ !
बना चरण सेवी, अपना !
पुजारी अपना !

(हे स्वामिन ! इस संसार में जो कुछ दृश्यमान है, या चिंतन रूप में है या सुना जाता है—देखने वाले, सुनने वाले या विचार करने वाले से लेशमात्र भी भिन्न नहीं है, तथा यह समस्त जगत् चित् रूप से ही प्रकाशित है। इसी चित् प्रकाश का नित्य विमर्श करने वाले को इसी में स्थिर करके साक्षात् चित् रूप ही बना दो।)

अख रछ़ ति ब्योन छुनि व्यध व्यधक क्यँह
स्व प्रकाश छुई सोरुई तमि रोस न क्यँह
स्वात्मक व्यमर्श करिविनिस म्य ही ईश
तथ मंज़ दर्यर दिम बेयि समावेश ।।
उत्पल स्वगत ओस बनान०...........

● ● ●

दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं
स्वेच्छयैव परमेश्वर तया
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः
पादसंवहन कर्मणपि वा ।।१०।।

---

10. **शब्दार्थ**—दासधम्नि—अपने दास भाव में, विनियोजिता—प्रेरणा करके, अपि—भी, दर्शनेने—दर्शन से, किम्—क्या, पात्रितः—योग्य पात्र, न—नहीं, अस्मि—हूँ, वा—अथवा (यदि यह नहीं होता), पाद—पवित्र चरणों के, संवहन—धारण करने (सेवन करने के), कर्मणपि—कर्म पर भी (क्यों नहीं लगाते) कृतार्थ क्यों नहीं करते।

प्रेरित किया, हे नाथ !
जब स्वेच्छा से मुझे
अपने दास भाव में
तो क्यों नहीं पाता हूँ मैं
स्वस्वरूप के दर्शन को ?
साक्षात्कार को ?
देते क्यों नहीं यह सौभाग्य मुझे ?
बन जाने दो अधिकारी अब
इस रुद्र शक्ति-समावेश का !
और इसके अह्लाद का !

(हे ईश्वर ! आपने अपनी इच्छा से ही मुझे चित्तात्मक जीवन प्रदान किया तथा चित्त की चिन्ता करने की ओर लगा दिया । अब मुझे पूर्ण चिन्मय अकृत्रिम अहंभाव सहित क्यों नहीं रहने देते हो ताकि मैं इस जगत् में प्रत्येक क्रीड़ा-चित्र रूपमय करता हुआ, इस जगत् के भोग का पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लूं ।)

म्यानि यछ़ायि न क्योंह स्वतः स्यद्धचि पानय
दासि भावची प्रेरणा दिछथम चे म्य
क्याजि़ वोन्य ब्व युगि छुस न साक्षातकारस
शिव शक्ति रूप च्यन पानि प्रावनस ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०...........

● ● ●

शक्तिपात समये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित् ।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे ॥११॥

11. **शब्दार्थ**—ईश—हे स्वेच्छाचारी प्रभो, शक्तिपात समये—शक्तिपात करते समय—अनुग्रह करते समय, विचारणम्—विचार करना, प्राप्तं—चाहि (किसी के योग्य हूँ या नहीं), कर्हिचित्—कभी भी, न—नहीं, करोषि—कर हो, अद्य—परन्तु आज, माँ प्रति—(सदा) मेरी ओर, किम्—क्यों, आगतम्— आ पड़ी है, यतः—जिस कारण से, स्वप्रकाशन—स्वप्रकाश (अपने चिदात्म स्वरूप के प्रकाश), विधौ—झलक दिखाने की विधि में, विलम्ब से—दे करते हो ।

जब नहीं विचारा, हे नाथ !
तुमने उस समय
जब समझा पात्र मुझे :
अपनी दया का !
अपनी कृपा का !
अब स्वस्वरूप प्रकाशन में
यह विमुखता क्यों ?
यह देर क्यों ?

(हे स्वतन्त्र स्वामी ! आपने मुझे अपनी स्वाभाविक शक्तियाँ प्रदान की जिनको पंचकुञ्चकों ने संकुचित कर दिया है, फिर से स्वाभाविक रूप को अपने अन्तर में उभरने की प्रेरणा आपने दी । शक्तिपात करते समय आपको विचार करना चाहिए था कि क्या मैं उसके योग्य हूँ या नहीं ।)

सूचुँत न तेलि येलि सोंचुन चे पजिही
नाद यलि दिचोथम म्य पानस कुन
च्यथ आनन्द रूपि नोन प्रकाश म्य हावनस
वन्य क्या च्य हीलि छुई चेर करनस ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०''..........

● ● ●

तत्र तत्र विषये बहिर्विभा—
त्यन्तरे च परमेश्वरीयुतम्—
त्वां जगत्त्रितय निर्भरं सदा
लोकयेय निजपाणिपूजितम् ॥१२॥

---

12. **शब्दार्थ**—बहिर्—बाहिरी नीलादिक जगत्, अन्तरे च—सुखादिक जगत् रूप में, तत्र तत्र—उन सभी में, विभाति—प्रकाशित (चमकते हुए), विषये—जगत् में, परमेश्वरी—पराशक्ति देवी के, युतम्—सहित, जगत् त्रितय—तीनों लोकों में (भूः; भुवः, तथा स्वः लोक से), निर्भरं—परिपूर्ण, त्वां—आपको, निजपाणि—अपने हाथों से, पूजितम्—पूजन करते, सदा—हर समय समाधि और व्युत्थान में, लोकयेय—देखता रहूँ ।

सुख-दुःख बाह्य-जगत
है पराशक्ति युक्त तेरा रूप,
मैं देखता रहूँ
उस त्रिलोक पूर्ण रूप को,
और पूजा करता रहूँ
अपने हाथों से
व्युत्थान में !
समावेश में !

(हे प्रभो ! समस्त पदार्थों में चाहे वे बाहिर दृश्यमान जगत् में हैं या अन्तस्थ में हैं—सब में आप ही शिव-शक्ति रूप में अर्थात् त्रिजगत् रूप में इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपी त्रिपुट शक्ति सहित विद्यमान हैं। आपके ऐसे ही शक्तिमान शिव स्वरूप की मैं फिर अपनी शक्तियों के द्वारा पूजा करता हुआ स्वयं पूजनीय बन जाऊँ अर्थात् शक्तियों द्वारा शक्तिमान बन जाऊँ।)

प्रथ कुनि दीशस मंज युस छुक चीई
आन्दिर न्यबारि शक्तिमानि त्रिजगत रीपि चीई
चोनुई यि शिव स्वरूप शक्ति द्वारि पूजिहय
पूजि किन ब्व पूजनी पानि बनिहय ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०...........

● ● ●

स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो
निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा ।
स्यां प्रसादपरमामृतासवा—
पानकेलिपरिलब्धनिर्वृतिः ॥१३॥

---

13. **शब्दार्थ**—अभिसन्धिमात्रतः—मैं अपनी इच्छा मात्र से ही, स्वामि—चिदात्मा के, सौध—अत्यन्त ऊँचे, निर्विबन्ध—बिना किसी रुकावट के, अधिरुह्य—ऊपर महल पर चढ़कर, प्रसाद—अनुग्रह रूप, परमामृत—श्रेष्ठ (अद्वितीय) अमृत रूपी, आसव—मदिरा के, पानकेलि—पान करने की क्रीड़ा में, सर्वदा—रात और दिन, परिलब्ध निर्वृति—आनन्द परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त, स्याम—हो जाऊँ।

इच्छा मात्र से ही पाऊँ अबाध
उस शक्ति की श्रेष्ठ भूमिका को,
पूर्णानन्द में,
सर्वदा अनुभव करता रहूँ,
आसव पीकर
तेरी दया का
तेरे प्रसाद का ।

(उत्पलदेव अपनी उत्कट आकांक्षा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—काश मैं सदा अपनी इच्छामात्र से बिना किसी शारीरिक या मानसिक रुकावट के, शक्ति समावेश के ऊँचे पद पर चढ़कर जगत् की सृष्टि में स्थित आपके अनुग्रह से समावेश रूपी अमृत-मधु को पीने की क्रीड़ा करता हुआ नित्य पूर्णानन्दमय रहूँ ।)

कुनि रोकि टोकि रोस्तुई सूक्ष्म खोति सूक्ष्म चेन
पनिने यछायि पानि न्यथ म्य रूजितन
अमि कुई छु युस फल चेयि सीतिय समागम
ती म्य तथि मंज न्यथ थावतम ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०............

● ● ●

यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु
स्पर्शमात्र विधिना चमत्कृतिम् ।
तां समर्पयति तेन ते वपुः
पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः ॥१४॥

---

14. **शब्दार्थ**—यत—जो, समस्त—सब, सुभगार्थ—चिद्रूप से अभिन्न होने के कारण सौन्दर्य से भरे, वस्तुषु—सब वस्तुओं में, स्पर्श मात्र—केवल अनुपम स्पर्श द्वारा, विधिना—विधी से, तां—उस अलौकिक को, चमत्कृत—चमत्कृत करके, तेन—उसके द्वारा, अचल भक्तिशालिनः—अनुपम भक्ति सहित आपके भक्त, ते—आपके, वपु—चिन्मय स्वरूप की, पूजयन्ति—पूजा करते हैं अर्थात् आप सच्चिदानन्द स्वरूप में समाविष्ट होकर आनन्दमय रह जाते हैं ।

देखते जिस युक्ति से
निज चिन्मय रूप को
सुगम पदार्थों में सभी
पाकर समावेश—
विषयों के स्पर्श से !
विश्रान्ति पाते हैं,
भक्त तेरे
सागर में
अनन्त आनन्द के !
उल्लास के !

(ससार के सभी पदार्थ चिन्मय होने के कारण सुन्दर प्रयोजन स्वरूप हो हैं। इन्द्रिय द्वार उनके सम्मुख होने पर वे चित्त रस का ही स्वाद प्रदान क हैं। आपके पूर्ण भक्त विषय भोग करते हुए आपके विश्वोत्तीर्ण रूप के चमत्क का आनन्द प्राप्त करते हैं तथा आप में ही विश्रान्ति प्राप्त करते हैं।)

व्यधि वगि सोरुई च्यति रूपि आसनि किन
सुन्दर प्रयूज़न तिम छि दिविवुन
चीनी भखित यिम टाठ तिम छि रटिवुन
च्यति कुई चमत्कार विश्व भूगि किन ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०…………

● ● ●

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥१५॥

15. **शब्दार्थ**—आत्मना—आप चिद्र रूप में, स्फुरत—स्फूर्त हो (विकास में आकर), अखिलविश्व—सारे जगत् का स्फारयसि—स्फुरित क हो (कार्यतत्परा करके), रूपम—अपने ही रूप का, उद्घाटन, आमृश—चमत्क करते हुए, विश्वम्—सारे संसार को, आमृशन—आस्वादन करके आनन्द बनाते हो, यत—और जब भी आप, स्वयम्—अपनी इच्छा से, निजरसेन अपने इस परमानन्द रस में, घूर्ण से—घूमते हैं (घूमने लगते हैं), तत्—उ ऐसी वेला में, भावमण्डलम—यह सारा संसार समुल्लसित हो जाता है।

तेरे चित्त स्वरूप का आभास,
है सकल विश्व का विकास !
तेरे स्वरूप का चमत्कार,
है विश्व का आनन्द, उल्लास !
छलकता रस जब तेरे चिदानन्द का
नाचने लगता तभी उल्लास में
यह भावमण्डल !
यह दृश्य जगत !!

(जब आप स्वयं अपने चिन्मय स्वरूप से स्फुरित होते हैं तो जगत् भी विकसित होकर प्रकट होता है और जब आप अपने स्वरूप का विमर्श करते हैं तो जगत् को फिर अपने अन्दर लग कर लेते हैं। अपने स्वरूप के आनन्द से सन्तुष्ट होने पर आप जगत् को भी सन्तुष्ट अर्थात् इसकी स्थिति करते हैं। जिस प्रकार अपने निजानन्द से आप अपने चित् को विकास में लाते हैं, सारा दृश्य जगत् भी उसी प्रकार विकसित हो जाता है।)

पनिने स्फार किन ज़गतस चि़ बासमान
चेष्टा करिथ तथ विमर्श छुक करान
यमि रूपि बोलसनस च्यथ रसि यिख चीय
तमि रंगि दृश्य जगत ति व्यकसान छुई ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०............

● ● ●

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं
पश्यतीश निखलं भवद्वपुः ।

स्वात्मपक्ष परिपूरते जग—
त्यस्य नित्यसुखिनः कुतोभयम ॥१६॥

मन होता है जिसका लीन
तेरे ही चित स्वरूप में,
निर्विकल्प हो जाती है दृष्टि उसकी,
मिट जाते हैं इसके धुँधलके सारे
रहता न फिर उसका
वह भौतिक रूप
बन जाता है वह चिन्मय स्वरूप
देखता वह अपने ही चित् रूप को है
हर तत्व में !
हर वस्तु में !
हर सतत सुखी जन को
भय कहाँ
और किसका ?

(जो भक्त राग तथा द्वेष के बिना विकल्पहीन रहकर सब पदार्थों मे अपना ही प्रतिबिम्ब देख ले, वह प्रत्येक वस्तु में, हर प्रकार से अपने आप को आनन्दमय पाता है। उसके सम्मुख इस संसार में और कोई नहीं है जिसे उसको भय या त्रास लगे।)

राग दिश त्राविथ वुछि युस जगतस
पनिने यछायि जन मज़ सु पानस

16. **शब्दार्थ**—ईश—हे स्वतन्त्र स्वामी, यः—जो उत्तम योगी भक्त, इदम् निखलं—इस सारे, अर्थमण्डलम्—संसार मण्डल रूपी सब पदार्थों को, अविकल्पं—निर्विकल्प भाव से, (शाक्त समावेश क्रम से), भवद्वपुः—आप को (चित्त स्वरूप ही), पश्यति—देखता है, स्वात्मपक्ष—अपने चिद्काल स्वरूप से अपने से अभय बनाये हुए, परिपूरितं—चारों ओर भरा हुआ अपने से अभेद बनाये हुए, जगति—इस संसार में, अस्य—जिसको ऐसी भावना है, नित्य—हर समय, सुखिनः—आनन्दमय भक्त को, भयं—भय, कुतो—किसे कह सकता है।

तस निश दोयुम कुस कीवल सु पानै

फालिथ छु ज़गतस छुस न काँह ति ब्योन ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान॰..........

● ● ●

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते
कालकूटमपि मे महामृतम्
अपि उपान्तममृतं भवद्वपुः—
भेद वृति यदि रोचते न मे ॥१७॥

कालकूट का वह गरल विष,
पड़ा है जो गले में तेरे,
है मेरे लिए अमृत-महान ।
अमृत भी यद्यपि दिव्य रूप,
मिल जाए मुझे अनायास,
नहीं इष्ट मुझे यदि
नहीं अभिशिक्त तुम्हारे स्वरूप से ।

(हे स्वामिन ! आपने कालकूट का जो भयंकर विष अपने कण्ठ के एक कोने में धारण किया है, आप से अभेद होने के कारण, वह विष मेरे लिए महान् अमृत तुल्य ही नहीं अपितु उससे भी अधिक स्वादिष्ट होगा । यदि मेरे सामने पीने के लिए अमृत प्रस्तुत किया जाए, परन्तु वह आपके साथ भेद पैदा करे, तो वह मेरे लिए विष के समान है ।)

---

17. **शब्दार्थ**—हे ईश—हे स्वतन्त्र स्वामी, यदि—अगर, उपान्तं—विना परिश्रम (निकट आया हुआ) प्राप्त, अमृतं—अमृत, भवद्वपुः—आपकी आकृति स्वरूप से, भेदवृत्ति—पृथक है, मे—अतः वह भी मुझे, न रोचते—अच्छा नहीं, लगता (दीखता) है, ते—आपके, कण्ठकोण—गले के कोने में शरीर के साथ अभेद होने से, विनिविष्टम—ठहरा हुआ (स्थित), कालकूटमपि—कालकूट नाम वाला ज़हर (विष) भी, मे—मुझे, महामृतम—महान् अमृत ही दिखाई देता है ।

चाने स्पर्श सोस बोड़ जहर म्य आ'स्तन
अमृत सु चाने रूपि बास्यम
अमृत ति ब्रोंठि कनि वोतमुत म्य आ'स्तन
योद दियम न चान्य चेन छुम न रोचन ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०..........

● ● ●

त्वत्प्रलापमयरक्तगीतिका
नित्य युक्तवदनोपशोभितः ।
स्याम थापि भवदर्चनक्रिया—
प्रेयसी परिगताशयः सदा ॥१८॥

पाकर समावेश मैं सदा,
गाता रहूँ गीत,
मधुर और रस भरे
तेरे विलास के !
लगा रहे चित्त मेरा सर्वदा
तेरी अर्चन क्रिया में !
दे दो, हे ईश !
मुझे वह ज्ञान
कि जानूँ मर्म,
हर गुत्थी का !
हर तत्व का !

---

18. **शब्दार्थ**—त्वत्—आप (चिद् स्वरूप) की अनुपम आकृति को देखने वाला, प्रलापमय—विलाप से भरे हुए, रक्तगीतिका—तथा भक्ति से भरे हुए गीतों के द्वारा, नित्ययुक्त—नित्य समाहित में, वदन—मुख जिसका, उप-शोभितः—शोभित है अर्थात् ऐसी भक्ति की अवस्था में फूले नहीं समाती, अथापि—और, भक्तर्चनक्रिया—आपके पूजा रूपी, क्रिया रूपी, प्रेयसी—अधिक प्रिय है, परिगताशयः—बिना किसी स्वार्थ के (निःस्वार्थ भाव में), सदा—प्रतिक्षण, स्याम—हो जाऊँ (बनूँ) ।

(हे स्वामिन, चित् विमर्श के अह्लाद से विकसित होकर जो शक्ति आप के अनुरागमय तथा स्वरमय गीतों में ढलकर मेरे अन्दर से उभरकर प्रकट होती है, वह सुन्दर गीत रूपी शक्ति मुझे भी सुन्दर बना दे। अर्थात् मेरा चित् रूप विश्वरूप में विकसित हो। आपकी पूजा रूपी ऐसी शक्ति जो कि आपकी प्रेयसी है, मुझ में सदा विकसित रहकर मुझे सदा अङ्गीकार करे ताकि मैं भी शक्तिमान तथा आप जैसा शिवस्वरूप बन जाऊँ।)

च्यथ विमर्श रसि कुई आनन्द यि मेयि मंज
सोन्दर स्वरूप सु म्योन कड़तन यि मेयि मंज
शक्ति रूपि क्रय योस् छि पूजायि चानि हिंज
सुई टोठ म्य सतुष्ठ रूजितन मेयि मंज
उत्पल स्वगत ओस बनान०..........

● ● ●

ईहितं न बत पारमेश्वरम
श्यक्यते गणयितुं तथा च मे।
दत्तमत्यमृतनिर्भरं वपुः
स्वं न पातुमनुमन्यते तथा ॥१६॥

समझ में आता नहीं है, हे ईश !
यह तुम्हारा विलक्षण व्यापार
दिया यदि है मुझे—
चिदानन्द से पूर्ण स्वरूप,

---

19. **शब्दार्थ**—बत—महान् आश्चर्य है, पारमेश्वरम्—परमेश्वर के कार्यों के विस्तार को, ईहितं—करनी (चेष्टाएँ) समझती, तथा—उस तरह (बेरोक), गणियुतं—गिनती नहीं, मे—मुझे, दतमपि—दिया हुआ है, अमृतनिर्भरं—अमृत से भरा हुआ आनन्दमय स्वरूप दिया भी है, तथा—तो भी अपनी इच्छा अनुसार, पातु—अमृत पीना, न—नहीं, अनुमन्यते—मानते हैं अर्थात् दुबारा व्युत्थान भूमी की प्रेरणा करता है।

फिर देते क्यों नहीं अनुमति
लीन रहने की
सतत इस रूप में !
और भेजते क्यों सर्वदा
बार-बार
व्युत्थान भूमि में !
बाह्य दर्पण में !

(आपके ये स्पन्द कर्तव्य बहुत ही अलौकिक तथा आश्चर्ययुक्त हैं तथा उनको गिनना या समझना बहुत ही कठिन है। आपने जो मुझे चिन्ताभास का अमृत रूपी प्रसाद पान करने को दिया है—ऐसा प्रसाद मैं पूर्ण रूप से नहीं पी सकता। अतः मेरा मन पुनः मुड़-मुड़कर व्युत्थान की ओर जाता है—यह कितना आश्चर्य है।)

अलौकिक स्यठाह चा'नि कर्तव्यहि ही ईश
फिकरि केहँ त्रान न छिम आश्चर्य छू ही ईश
आसुन त आसनुक बासुन म्य दितुथम
आह्लाद तम्युक पूरि मगर केहँ न दितुथम ॥
उत्पल स्वगत ओस वनान०..........

● ● ●

त्वामगाधमविकल्पमद्वयम्
स्व स्वरूपमखिलार्थधस्मरम् ।
आविशन्नह्म् मेश सर्वदा
पूजयेयमभि संस्तुवीय च ॥२०॥
(इति संग्रहस्तोत्रम समाप्त)

---

20. **शब्दार्थ**—उमेश—हे उमापति (शंकर परा भट्टारिका के स्वामी), अगाधं—अथाह, असीम, अविकल्पं—निर्विकल्प, अद्वय—अभेद रूप, अखिलार्थधस्मरम्—सब घर पर इत्यादि वस्तुओं को खाने वाले, स्व स्वरूपम्—अपने स्वात्म सुन्दर रूप में, आविशन—समावेश करता हुआ (प्रवेश करता हुआ), अहम्—मैं, सर्वदा—हमेशा, त्वां—आपकी, पूजयेयम्—पूजा करूँ, च—और, अभिसंस्तुवीय—सब पदार्थों में आपके ही अद्वितीय रूपाकृति की स्तुति करूँ (स्तवन करूँ, गाता रहूँ)।

अथाह चितरूप
और भेदहीन
निगलता जो
पदार्थों को सावशेष
पाकर प्रवेश
हे उमेश !
उस चिन्मय स्वरूप में
करता रहूँ
पूजा सदा
तेरे चित् रसस्वरूप की
तेरी विशालता की !

(हे शक्तिमान ! आप अगाध अर्थात् अविछिन्न हैं तथा आप अद्वैत अर्थात् द्वैतभाव से रहित हैं। आप अनुपम चित्‌रूप हैं तथा विकल्प से रहित हैं। संसार में जो कुछ भी देखने को मिलता है वह आपका ही स्वरूप है अर्थात् आप जगत् के साररूप हैं। आपके ही ऐसे स्वरूप में मैं अभेद भाव से पूर्ण समावेश करके इस स्वरूप का विमर्श करता हुआ उसी स्वरूप में लीन हो जाऊँ।)

निर्विकल्प च्यथ रूपि छुक युस चि च्यदि रोस

जगतुक यि आदि त अन्त कुन चि यि भेदि रोस
चोनि लख्यन छि यिम च्यि मंज़ ब्व अचिना
अदि च्यथ रूपि चेयि ह्यू ह च्यथ बोति बनिना
उत्पल स्वगत ओस वनान०............

●●

कल्पना

—बी० एन० कौल नाज़िर

दूर-बहुत दूर
तेरी माया पहाड़ियों से दूर
तुम्हारे दुःख की दीवारों से भी दूर
रहती है एक भीड़
एकाकी और खाली लोगों की
देते हैं जो मन से और लेते हैं मस्तिष्क से ।
वे एकाकी खाली लोग
रहते हैं मूक ।
तुम अगर पहिचानना सीख सकोगे
इन आकारों की छोटी सी भीड़ को, तो,
तुम भी तैर सकते हो
समतल मस्तिष्कों के इस बादल पर ।
मगर ! याद रहे मेरे मित्र
यह द्वार खुलेगा केवल भीतर की ओर ।
इसलिए अपनी आँखें बन्द करके तलाश मत करो—
रात के समय
और न जीवित रहो द्वेष बसाए दिल में
और सीखो !
कुछ वापस लिए बिना
कुछ दिया कैसे जाता है—
फाड़ दो अपने ही बनाए हुए
आवरण-स्वार्थों के
शायद एक दिन इस तरह
रोशनी होगी !
और तुम देख सकोगे
इस धरती को
जो दूर है—बहुत दूर !

भाई जी श्री बी० एन० कौल नाज़िर

परिचय :

मैं न कोई साहित्यकार हूँ न विद्वान्, न कोई कवि हूँ न कलाकार। सामाजिक दृष्टि से किसी विशेष प्रतिष्ठा का स्वामी भी नहीं हूँ। एक गुमनाम आम सरकारी मुलाजिम हूँ और आम इन्सान की तरह बटोही की हालत में भटकता फिरता हूँ--अकेला और बेसहारा। व्यग्र हूँ और खोज है लक्ष्य की—एक पथप्रदर्शक की। वहुत साधुओं के दामन पकड़े, किसी ने थामा नहीं। वावा भाई जी से भी परिचय तो है, कैसे हुआ, यह बाद में कहूँगा। मेरे अग्रज होने के नाते मैं उनका बहुत आदर करता हूँ। मेरे पास प्रायः आते हैं, मैं भी बहुत बार इनकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ और अब भी होता हूँ, मगर फिर भी मैं अपने आपको न इनके मित्रों में और न ही इनके प्रियजनों में समझता हूँ। क्योंकि जब भी अपनी मनोव्यथा की बात इनसे छेड़ने का प्रयास करता हूँ चौंक कर झट से जवाव मिलता है कि "मनुष्य को तत्त्व जानने के लिए किसी वस्तु या पथप्रदर्शक की आवश्यकता नहीं वह स्वयं ही तो सत्य है मगर इससे बेखबर है, बेसुध सा हो गया है एक गलत माहौल में पल कर। उसको अपनी वास्तविक मनुष्यता, अपनी मूल प्रकृति फिर प्रकट हो जाएगी जब वह स्वयं ही—स्वयं—वैयक्तिक घेरे से निकलकर सारी प्रकृति के साथ स्वयं को एकाकार, सन्निधान और व्याप्त करेगा। इसके लिए रूढ़ गुरु-शिष्य परम्परा की कोई विशेष विधि नहीं, विधान नहीं। यह एक भावुकतामय तत्त्व है जिसकी कोई सार्थकता नहीं, कोई महत्त्व नहीं है, अनावश्यक और सारहीन है। इसके लिए केवल मन चाहिए। किसी वस्तु-सामग्री के बिना, निष्काम प्रेम से भरपूर। ऐसा प्रेम जिसमें क्षय न हो। होश हो, जोश न हो। जो हर रंग में डूबकर भी बेरंग रहे। इसी दिल से इस संसार में काम करना चाहिए। किसी इनाम की इच्छा से नहीं, बल्कि केवल काम के लिए, जीवन को जीवित रखने के लिए। क्योंकि लौकिक और अलौकिक प्रेम दोनों जीवन-द्वार पर मिलते हैं। जीवन से बाहर वे निरर्थक हैं, व्यर्थ हैं।" ऐसे उपदेशात्मक उत्तर-शृंखला घंटों चलती रहती है। दिल को तनिक शान्ति तो मिलती है उनकी उपस्थिति में। घर जाकर फिर वही चिर शंकाएँ और समस्याएँ घेर लेती हैं। खैर, अभी मेरी विनती बराबर जारी है और वे भी अपने उत्तर पर अचल हैं।

भाई जी से परिचय की एक अजीब घटना है। शायद सन् 1977 के मध्य की बात है - एक दिन मुझे बड़ा दुःखद समाचार मिला—मेरे एक सहपाठी और गहरे मित्र, ज्योतिपुरम में 'सलाल' प्राजेक्ट, जम्मू क्षेत्र का सबसे बड़ा हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट, के पास एक दुर्घटना के शिकार हुए हैं। मेरे मित्र, जो इस प्रोजेक्ट के सीनियर सिविल इंजीनियर थे—हमेशा की तरह प्रोजेक्ट का दौरा कर रहे थे। उनके साथ उनके कुछ साथी भी थे। दौरे के दौरान पहाड़ की ऊँचाई से कुछ बड़े पत्थर लुढ़क गए और इनकी जीप से टकराए। उनमें से एक इंजीनियर को काफी गहरे जख्म आ गये और मेरे मित्र भी जख्मी हुए। उसी समय जीप जख्मियों को लेकर इलाज के लिए जम्मू रवाना हुई।

मैं बहुत चिन्तित हो उठा। शाम को उनका हाल जानने के लिए और यह पता लगाने के लिए कि दुर्घटना कैसे घटी, मैंने श्रीनगर से जम्मू, उनके घर एक ट्रंक काल बुक की। टेलीफोन पर किसी अनजाने व्यक्ति ने—जिसकी आवाज मैं पहचान न सका पूछा कि मैं कौन हूँ। मैंने कहा, "मैं उनका भाई हूँ। उनके साथ बात करने के लिए चिन्तित हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या वे ठीक हैं।" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "वे ठीक हैं, मामूली जख्म आ गए हैं। दवाई लगवाकर 'नाज़िर साहब' से मिलने गए हैं।" मैंने पूछा "नाज़िर साहब'? वे कौन हैं।" जवाब मिला "आपने कहा कि आप उनके भाई हैं? आप 'नाज़िर साहब' को नहीं जानते?" मुझे यह थोड़ा बुरा लगा और मैंने टेलीफोन रख दिया। मैं अपने मित्र के सगे-सम्बन्धियों और उनके दूसरे साथियों के बारे में सोचने लगा लेकिन मेरे दिमाग में 'नाज़िर साहब' का ध्यान कहीं नहीं आया। उनका नाम पहली बार सुन रहा हूँ।

कुछ समय बीत गया। मैं जम्मू के दौरे पर था और अपने मित्र के पास ही ठहरा। सौभाग्य से उस दिन वह घर पर ही था। वह ज्यादातर ज्योतिपुरम के सलाल प्रोजेक्ट में मग्न रहता था। रात को उसने बढ़िया खाना खिलाया और अनेक विषयों पर बातचीत हुई क्योंकि हम काफी समय के बाद मिले थे। सवेरे जब हम चलने के लिए तैयार हुए तो उसने अचानक मुझसे कहा "चलो, 'नाज़िर साहब' के पास जाएँगे"—मुझे बड़ी खुशी हुई और जिज्ञासा भी। मैंने पूछताछ शुरू कर दी। कार में बैठकर हम नाज़िर साहब के घर की ओर चले—थोड़ी देर में पहुँच भी गये।

यह पुराना मकान था और उसके सामने काफी जगह खाली थी। वे निचली मंजिल में ही रहते थे, जगह काफी खामोश और ठण्डी थी। हम अन्दर चले गए—कमरे का माहौल आकर्षक था, चारों तरफ शान्ति का वातावरण, दीवारों पर सन्तों, महात्माओं और देवताओं की तस्वीरें और सामने सुगन्धित धूप जल रही थी।

उस दिन पहली बार महान् व्यक्तित्व से भरे 'नाजि़र साहिब' को देखा। बाद में यह मेरे हितैषी, मार्ग दर्शक एवं विश्वसनीय मित्र बने। प्रायः लोग इन्हें 'भाईजी' के नाम से पुकारते हैं। छरहरे बदन, लम्बे कद और साधारण से वस्त्रों में छोटी मूंछें और दाढ़ी, आँखों पर ऐनक और चेहरे पर एक सामान्य सा भाव। माथे पर आकर्षक चमक और कोमल, सुन्दर और अत्यन्त विनम्र बोली।

जब हमने प्रवेश किया तो वे किसी काम में लीन थे। थोड़ी देर में उन्होंने हमारा स्वागत किया और अपने पास ही बैठने के लिए कहा। हम उनके सामने पालथी मारकर श्रद्धा-विनत् बैठ गये। मेरे मित्र ने उनसे मेरा परिचय कराया। उन्होंने मुझ से मेरे बारे में अनेक बातें पूछीं—मेरा काम-काज, निवास स्थान, वर्तमान दौरा आदि-आदि। उन्होंने हमें चाय पिलाई और बातचीत के दौरान मुझसे एक सवाल किया—शायद मेरी बुद्धिमता परखने के लिए—जिसका उत्तर मैंने कुछ-कुछ मूर्खता पूर्ण सा दिया। सवाल था "मान लीजिए एक शेर गाय पर वार करे और आप वहीं पर हों तो आप क्या करेंगे ?" कुछ सोच समझकर मैंने जबाव दिया हमें गाय को बचाना चाहिए क्योंकि यह हमारा धर्म है और इसलिए भी कि धर्म-शास्त्र में हमारे यहाँ गाय को माता के समान माना गया है। "नहीं" उन्होंने कहा है, "हम कुदरत की करनी में हस्तक्षेप क्यों करें। यह तो ऐसी प्रक्रिया है जहाँ हम कुछ कर ही नहीं सकते। भला शेर घास तो खा नहीं सकता।" मैंने अपनी गलती महसूस की और मुझे अफसोस हुआ।

थोड़ी देर बाद हमने जाने की आज्ञा ली। उन्होंने हमें मूर्तियों के सामने एक अगरबत्ती जलाने को कहा, थोड़ा प्रसाद दिया—मूर्ति के चरणों के पास से लिया हुआ थोड़ा सा सूखा मेवा और आशीर्वाद दिया। चलने लगे तो वे कार तक हमें छोड़ने आये। मैं बेहद प्रभावित हुआ। उन्होंने खुलकर हमसे

बात की जैसे मेरी उनसे काफी पुरानी जान-पहचान हो—मैं भी भूल गया कि यह उनसे मेरी पहली मुलाकात है। आँगन के दरवाजे पर हमने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उन्होंने भी उसी ढंग से हमें विदा किया। उनके साधारण और विनम्र व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उमड़ आई।

भाई जी चन्द साल पहले तक सरकारी नौकर थे। वे एक गृहस्थ हैं और उनका एक भरा पूरा परिवार है। सभी बच्चे अच्छी स्थिति में हैं। सन् 1979 में भारत सरकार की गेजेटेड (Gazatted) नौकरी से उन्होंने अवकाश प्राप्त किया और श्रीनगर कश्मीर में स्थायी रूप से बसने के लिए आ गये। कुछ समय के लिए वे आलीकदल—जेहलम नदी पर पाँचवा पुल—में अपने पूर्वजों के घर में रहे। यह एक पुराने ढंग का मकान था जहाँ उन्होंने अपने माता-पिता एवं भाइयों के साथ अपने बचपन के दिन गुजारे थे। पैतृक घर में जगह की कमी थी और इनका परिवार बड़ा।

अतः कहीं और अलग रहने का निश्चय किया। उनके पास अपना कोई मकान नहीं था। उनके एक भक्त ने उन्हें रावलपुरा श्रीनगर में अपना मकान रहने के लिए प्रस्तुत किया—उनके यह भक्त जम्मू के कालेज में प्रोफेसर हैं और आजकल स्थाई रूप से वहीं रह रहे हैं। उनका प्रस्ताव स्वीकार करने में भाईजी को कोई कठिनाई नहीं दिखी। (अब भाईजी ने रावलपुरा में ही अपने लिए मकान बना लिया है और उसी में रह रहे हैं।)

भाईजी, अपने इस भक्त के मकान की निचली मंजिल में रहते थे। उनका एक निजी कमरा था जिसमें लकड़ी के एक साधारण से पलंग पर वे बैठते थे—परिवार से अलग। उनके भक्तजन यहीं उनसे मिलते और वे निष्कपट रूप से उनसे बातें करते रहते। कमरे में वह सब कुछ था जिसकी उन्हें आवश्यकता रहती। थोड़ा सा फर्नीचर, छोटा सा कप-बोर्ड, एक टेलीफोन, चन्द पुस्तकें, सिगरेट और माचिस की एक-दो डिब्बियाँ। तख्त के ठीक सामने वाले कोने में एक छोटा सा मन्दिर—लकड़ी के डिब्बे पर रेशम का लाल कपड़ा बिछा हुआ—उस पर भगवान कृष्ण, भगवान गणेश और देवी लक्ष्मी की सुन्दर मूर्तियाँ। ऊपर दीवार पर उनके गुरु सन्त लहरी महाशय और सन्त लहरी महाशय के गुरु बाबा जी की तस्वीरें टंगी हुई। मूर्तियों के सामने अगरबत्तियाँ जल रही हैं और कुछ ताज़े और सूखे फल रखे हुए हैं।

एक दिन जब मैं उनसे मिलने गया तो भाईजी ने सन्त लहरी महाशय और उनके गुरु के विषय में बहुत कुछ बताया—लेकिन मैं केवल देखता रहा और कुछ समझ न पाया कि वे कौन और क्या थे। कुछ समय बाद मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ीं और यह जान लिया कि वे कितने बड़े सन्त थे।

(2)

मुझे अपने कार्यालय में कई बार भाईजी से मिलने का अवसर मिला है। एक बार मेरे कार्यालय में वे मेरे साथ बैठे चाय पी रहे थे कि मेरे एक सम्बन्धी ने कार्यालय में प्रवेश किया। वे मेरे सामने और भाईजी के पास वाली कुर्सी पर बैठ गये। पहले तो वे भाईजी को पहचान न सके लेकिन थोड़ी देर बाद जब पहचान लिया तो वे एकदम खड़े हुए और उनके चरण छू लिये। अब वे बड़ी श्रद्धा और विनम्रता से व्यवहार करने लगे। मेरे मन में जिज्ञासा हुई लेकिन मैं चुप रहा। बाद में उन्होंने भाईजी का परिचय इस घटना को सुना-कर कराया, उनके ही शब्दों में "तुम बड़े भाग्यशाली हो जो तुम्हें भाई जी का सम्पर्क प्राप्त हुआ है। तुम नहीं जानते कि वे कितने महान् व्यक्ति हैं।" कहते-कहते उसने एक ऐसे अवसर का वर्णन किया जब भाईजी और वे दोनों एक-साथ जम्मू में थे। वहाँ वे कश्मीरी पण्डित सभा—एक ऐच्छिक धार्मिक संस्था, से सम्बद्ध थे। कहने लगे—"एक बार हमने जम्मू में पण्डित सभा में भाईजी की अध्यक्षता में एक धार्मिक अनुष्ठान का आयोजन किया। इस यज्ञ में अनेक लोगों ने भाग लिया। परम्परानुसार चढ़ावे में नकद और जिन्स दोनों इकट्ठे हुए। भाईजी नगद चढ़ावा लेते और अपने पास ही रखते। मेरे मन में विचार आया कि इन जैसा सन्त स्वभाव का व्यक्ति ऐसा क्यों कर रहा है ? यज्ञ समाप्त हुआ और अगले दिन हम फिर मिले। भाई जी ने मुझे बुलाया और कहा कि कल का सारा नकद चढ़ावा सुरक्षित है और भगवान की मूर्ति के नीचे रखा हुआ है। मैं अपनी नीचता पर लज्जित हुआ और उनकी दृष्टि से चमत्कृत हो उठा। उन्होंने तो कल ही मेरे मन की शंका भाप ली थी लेकिन समझाने के लिए आज का दिन चुना था जब वहाँ मेरे अलावा और कोई न था। उन्होंने अपनी बात भी कही और सबके सामने मेरी लाज भी रखी।" यह सब सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और मुझे लगा कि भाईजी का सम्पर्क प्राप्त करना सचमुच ही मेरा सौभाग्य है।

(3)

भाईजी से मिलने एक दिन मैं उनके निवास-स्थान रावलपुरा गया। हमेशा की तरह उन्होंने बड़े आदर और सद्भाव के साथ मेरा स्वागत किया। आज वे कमरे में अकेले ही थे। मैंने इस अवसर का लाभ उठाना चाहा ताकि मैं उनसे अध्यात्मिक शक्ति के बारे में कुछ जान सकूँ। मैंने बड़ी विनम्रता से पूछा कि क्या यह सम्भव है कि आप इस महान् मार्ग पर मेरा पथ-प्रदर्शन करें। थोड़ी देर सोचने के बाद भाईजी ने धीरे से कहा "तुम अभी इस योग्य नहीं हो। दीक्षा ग्रहण करने से पहले व्यक्ति को पूरी तरह से योग्य होना पड़ता है।" सुनकर मुझे बुरा लगा। उन्होंने तत्काल मेरी उदासी भाँप ली और मुझे समझाने के लिए अपने एक बहुत पुराने अनुभव को सुनाया—"एक बार मैं फतेहकदल के निकट काली मन्दिर में—जहाँ मुसलमानों की एक मशहूर दरगाह 'खानकाइमौला' है, ध्यान में मग्न था। आध्यात्मिक पथ पर यह मेरे प्रारम्भिक दिन थे। मैं ध्यान में लीन था—अचानक मुझे एक भिखारी की आवाज सुनाई दी। मैंने आँखें खोली और देखा कि भिखारी मेरे सामने कुछ पैसे माँग रहा है। जब तक मैं देने के लिए पैसे ढूंढ़ पाऊँ, तब तक उस भिखारी का आकार बढ़ता ही चला गया और पल भर में वह मन्दिर के कलश तक ऊँचा होता गया। मैं डर गया और चीख पड़ा। भिखारी तत्काल गायब हो गया और मैं उलझन में पड़ गया।" भाईजी ने इस ढंग से मुझे समझाया कि जो लोग पूरी तरह से योग्य नहीं होते हैं उन्हें कैसे-कैसे भयंकर अनुभव होते हैं। उस समय वे भी ऐसी परीक्षा में असफल रहे। मैंने अपनी नासमझी महसूस की और मैं खामोश रहा।

(4)

भाईजी के पास टेलीफोन है—जिसका प्रयोग उनके प्रेमी एवं भक्तजन उनसे बात करने के लिए प्राय: करते हैं। मुझे भी उनकी मीठी आवाज सुनने की इच्छा होती है तो मैं भी उन्हें फोन करता रहता हूँ। एक बार मैंने फोन किया तो उनके बेटे ने टेलीफोन उठाया। भाईजी के बारे में पूछा तो पता चला कि वे जम्मू चले गये हैं। भाईजी अचानक ही इस प्रकार के दौरे पर जाते रहते। बिना किसी निश्चित कार्यक्रम के वे जब चाहे एक-दो सप्ताह या उससे

भी अधिक समय के लिए ऐसे ही चले जाते हैं। मैंने कुछ आश्चर्य से पूछा "क्यों, कब ?" "कुछ दिन पहले" और साथ ही उसने यह भी कहा "एक शुभ समाचार है, हमें डेढ़ लाख रुपये की लॉटरी मिल गई है।" मैंने कहा "बधाई हो" बाद में भाईजी ने पूरी घटना इस प्रकार से सुनाई।

"मुझे मकान बनाने में कुछ कठिनाइयाँ आ रही थीं इसीलिए मैं जम्मू चला गया – पैसे कम पड़ रहे थे।" (यहाँ यह कह दूं कि भाई जी को रावलपोरा श्रीनगर में राज्य सरकार ने मकान बनाने के लिए एक जमीन का टुकड़ा बेचा था। वे अपने परिवार के लिए एक मकान बनाना चाहते थे। अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने पैन्शन आदि के पैसों से मकान बनाना तो आरम्भ किया लेकिन पूरा करने के लिए पैसे कम पड़ रहे थे) "जम्मू में रहते हुए मैं बाजार गया जहाँ मेरे एक पुराने मित्र और भक्तजन ने मुझे बुलाया। इस व्यक्ति को कुछ समय पहले सरकारी नौकरी से हटाया गया था। वह अब चाय की दुकान कर रहा था और साथ ही लॉटरी की टिकटें बेचता। मैं दुकान पर चढ़ गया, नमस्कार-प्रणाम का आदान-प्रदान हुआ और बैठ गया। उसने मुझे चाय पिलाई। बात-चीत के दौरान उसने एक लाटरी टिकट खरीदने को कहा। कुछ क्षण सोचने के बाद मैं मान गया। उसने कहा कि यू० पी० लाटरी की इस टिकट पर डेढ़ लाख का इनाम है और इसका परिणाम शीघ्र ही आने वाला है इसी में से एक क्यों न लें ? मैंने मान लिया और उससे कहा, ठीक है मेरी पत्नी के नाम से एक टिकट तुम ही चुन लो। ऐसा ही हुआ। मैंने टिकट ली और चला आया। कुछ दिन बाद मैं उसी बाजार से जा रहा था कि उसी चाय की दुकान के मालिक ने मुझे बुलाया। मैं फिर दुकान पर चढ़ गया। उसने कहा यू० पी० लाटरी का परिणाम आ गया है कृपया अपनी टिकट दिखाइये। मैंने टिकट उसे दी और वह खुशी से चिल्ला उठा अरे वाह ! पण्डित जी बधाई हो लाटरी आपकी टिकट के हक में है—मैं ईश्वर की करनी पर थोड़ा हैरान हुआ—ईश्वर परेशान तो करता है लेकिन किसी को निराश नहीं करता।" सुनकर मैं चमत्कृत हो उठा। सच तो यह है कि भाई जी जम्मू उधार लेने पहुँचे थे और कुछ ले भी लिया था लेकिन ईश्वर ने अपनी कृपा से अपने प्रिय भक्त को बचा लिया।

यह घटना सुनाते-सुनाते भाई जी ने मुझे चाय की दुकान के मालिक की

कहानी भी सुनाई "वह राज्य पी० डब्ल्यू० डी० में स्टोर कीपर था और वहाँ उसने काफी पैसे बना लिये और फिर अपना अलग कारोबार करने का निश्चय किया। मैंने उसे मना किया कि इस तरह का काम मत करो लेकिन वह माना नहीं और उसने वैसा ही किया। कुछ समय बाद उसे भारी हानि हुई। कारोबार तो गया ही, साथ में सरकारी नौकरी भी गई और अब इस अवस्था में आ गया है। मेरा कहा न मानने पर पछतावा तो उसे हुआ, पर तब काफी देर हो चुकी थी।

जब भाई जी लखनऊ में लाटरी के पैसे लेने के लिए गए थे तब उनके घर वालों को उनकी ओर से एक तार मिला। उन्होंने तार द्वारा अपने बेटे को अपना स्कूटर चलाने से मना किया था। उनके घर वाले परेशान हो गए और उन्होंने मुझ से कहा कि कुछ अशुभ घटने वाला है। भाई जी बहुत दिन तक घर वापस नहीं आए—मैंने पूछा तो सुनकर धक्का लगा कि वे जम्मू में हैं और वहाँ उनका एक प्रिय भक्त स्कूटर दुर्घटना में अपने प्राण खो बैठा है। उसके परिवार पर गाज गिरी थी और भाई जी के लिए एक वैयक्तिक हानि। वह नवयुवक जम्मू में राज्य सरकार के एक उच्च पद पर हाल ही में आसीन हुआ था। हम सबके लिए यह एक त्रासद घटना थी क्योंकि मैं भी उस व्यक्ति से परिचित था।

मातम के दिन समाप्त हुए और भाई जी कुछ दिन बाद श्रीनगर लौट आए। घटना का ब्यौरा देते हुए उन्होंने मुझसे कहा "लखनऊ में जाने मुझे क्या हुआ—मैंने अपने बेटे को तार भेजा कि तुम स्कूटर प्रयोग में न लाना। मैं नहीं जानता कि क्या हुआ और अचानक मुझे समाचार मिला कि श्री बी० का स्कूटर चलाते-चलाते जम्मू में एक दुर्घटना में देहान्त हो गया है। उसे मैं अपना बेटा ही मानता था।" कहते-कहते भाई जी की आँखों में आँसू आ गए और उन्होंने आगे कहा "कुछ दिन पहले उसने अपनी बेटी के विवाह के विषय में मुझ से बात की थी—मैंने उससे कहा कि वह अभी इसी बारे में न सोचे पहले अपनी जन्म पत्री की जाँच करा ले क्योंकि मुझे लग रहा था कि कुछ बुरा होने वाला है—उसने माना नहीं और अपनी बेटी के विवाह की तिथि भी निश्चित कर डाली—विवाह की तिथि इस त्रासद घटना के बाद ही तय हुई थी। मुझे इस दुर्भाग्य से गहरा धक्का लगा है और सोचता हूँ कि काश उसने मेरी सलाह मान ली होती तो शायद यह त्रासद घटना न घटती।

भाई जी अपने भक्तों से दूर रहने पर भी उनके साथ घटने वाली घटनाओं पर हमेशा नजर रखते हैं । वे सदैव उनके लिए चिन्तित रहते हैं और उनकी सुख-शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं—वे तो किसी के भी दुःख को अपना दुःख मान लेते हैं ।

एक बार मेरे एक दाँत में भयंकर दर्द उठा । मैं अस्पताल गया और डॉक्टर ने कहा कि इसे तो निकालना पड़ेगा लेकिन मसूड़े की सूजन को कम करने के लिए चार दिन मुझे दवाई खानी पड़ी । चार दिन बीत गए और मैं दर्द में छटपटाता रहा । चौथे दिन मैं अपने दफ्तर से अस्पताल जाने के लिए निकला कि दरवाजे पर भाई जी मिले—मुझ से मिलने आए थे । मैंने उन्हें अपनी स्थिति से अवगत कराया तो उन्होंने कहा कि नहीं दाँत मत उखड़वाना । अतः मैं भाई जी को साथ लेकर वापस अपने कमरे में लौट आया । पुनः पूछने पर उन्होंने कहा "निकलवाने से अच्छा है कि दर्द सहा जाए । सहनशीलता सदैव लाभदायक होती है ।' और मैंने ऐसा ही किया ।

अगले दिन किसी व्यक्ति ने दूसरे डॉक्टर के पास जाने के लिए कहा जो कि अपना क्लीनिक चला रहा था । मेरे बहुत दर्द था और उसके पास जाकर सलाह लेने का फैसला किया । भले स्वभाव वाले उस दंत-डॉक्टर ने जब मेरे दाँत को देखा तो उसने इसमें चाँदी भरकर इसे बचाना चाहा हालाँकि उसको इस इलाज के प्रभाव पर ज्यादा विश्वास नहीं था—फिर भी वह स्वयं तजरुबा करना चाहता था । यह भी भाई जी के परामर्श के ही अनुरूप था । इसलिए मैंने मान लिया । डॉक्टर ने इसमें चाँदी भर दी और अब वह दाँत कई वर्षों से सुरक्षित है ।

(5)

सन् 1982 के मध्म में भाई जी बहुत बीमार हुए । उन्हें पेट के अलसर की बीमारी थी । उन्हें श्रीनगर के सरकारी अस्पताल में बड़ी नाजुक स्थिति में दाखिल किया गया । खून काफी बह चुका था । डॉक्टरों ने देखा तो उन्हें इन्टेनसिव केयर यूनिट में रखा लेकिन भाई जी की हालत बिगड़ती गई, उनके बचने की कोई आशा न रही । डॉक्टरों ने कई बार मीटिंग की कि क्या इस आयु में भाई जी का ऑपरेशन किया जाए या नहीं । ऐसी स्थिति में ऑपरेशन करना खतरे से खाली न था अतः डॉक्टरों ने यह निश्चय किया कि

ऑपरेशन हो ही नहीं सकता । स्थिति बिगड़ती गई पर दो दिन बाद भाई जी ने डॉक्टरों से कहा कि उनका ऑपरेशन किया जाए और वे स्वयं किसी भी दुष्परिणाम के जिम्मेदार होंगे । डॉक्टर यह जोखिम उठाना नहीं चाहते थे। भाई जी की सलाह पर बड़ी मुश्किल से एक भले डॉक्टर ने ऑपरेशन करना मान लिया । दूसरे माहिर डॉक्टरों के साथ मिलकर उसने यह ऑपरेशन किया और चार घण्टे बाद भाई जी को थियेटर से सुरक्षित बाहर लाया गया । भाई जी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई । कई दिनों का तनाव कुछ कम हुआ । उस शाम को जब मैंने डॉक्टर से बात की तो उसने कहा "हाँ ऑपरेशन अवश्य सफल हुआ लेकिन मैं जिस तनाव से गुजरा हूँ उससे मेरी जिन्दगी का एक साल कम हो गया ।"

आपरेशन के बाद भाईजी की स्थिति में कई बार चिन्ताजनक क्षण आए । बार-बार डॉक्टरों को बुलाना पड़ता था, डॉक्टरों की हालत भी दयनीय थी, लेकिन भगवान की कृपा से केवल पन्द्रह दिन बाद ही भाई जी ठीक हो गए उन्हें घर लाया गया और वे अब बिल्कुल ठीक-ठाक हैं । वास्तव में यह एक चमत्कारपूर्ण घटना थी ।

(6)

एक बार मैं भाई जी के पास गया—बात चल रही थी कि आध्यात्मिक शक्ति और अपने आप को पहचानने का सरल मार्ग क्या हो सकता है । मैंने पूछा कि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले को किस प्रकार और कितने अंक देंगे । उन्होंने एक अत्यन्त सरल सा तरीका बताया "चिन्ताग्रस्त न होने के लिए 50 प्रतिशत और दुःख में आतम-संयम न खोने के लिए 50 प्रतिशत" मुझे लगा कि इस तरह से तो हम अपनी प्रगति को बड़ी आसानी से माप सकते हैं । आत्म मूल्यांकन का यह एक निश्चित मापदण्ड है । बात को आगे बढ़ाते हुए मैंने फिर पूछा "यदि हमें आवश्यकता है तो क्या हम अपने ईश्वर-पिता से उसे माँग नहीं सकते जबकि हम उसे अपना मानते हैं ।" उन्होंने तुरन्त जवाब दिया "तुम्हें कैसे मालूम है कि उसे (ईश्वर) तेरी आवश्यकताओं का ज्ञान नहीं तुम्हें माँगना नहीं है, सब कुछ उसके ऊपर छोड़ना है । तुम माँगो या न माँगो उचित समय पर वह स्वयं प्रदान करता है" भाईजी ने इसके बाद पूरी बहस के सार को इन शब्दों में प्रस्तुत किया "अपने आपको भीतर से खाली

कर दो ताकि तुम में कुछ भरा जाए।" "अपने आपको भीतर से खाली कर दो"—इन शब्दों को दुहराते हुए उन्होंने फिर कहा "जब तुम इच्छा रहित होकर अपने भीतर को खाली करोगे—अपने भीतर एक शून्य बनाओगे तब ईश्वर स्वमेव आकर उसमें वास करेगा और तुम्हारी देख-भाल भी। अतः समस्त इच्छाओं, चाहतों और लोभ को निष्कासित करो, तभी तुम ईश्वर की कृपा के परिणामों को देख पाओगे।"

उस दिन मैं मन में एक गहरा पर विचित्र संतोष लेकर उनके घर से चला। मुझे पहला पाठ पढ़ाया गया था।

(7)

भाई जी ने अपने भक्तों और प्रेमियों की एक ऐच्छिक संस्था बनाई है। उन्होंने इसे नाम दिया है 'द सूपर सेल्फ वे-फेयरर्स ब्रदरहुड।' वे जीवन को एक यात्रा मानते हैं जहाँ सहयात्री मिलते हैं, कुछ दूर तक साथ-साथ यात्रा करते हैं और अपने-अपने गन्तव्य स्थान पर आकर अलग हो जाते हैं। इस संस्था के तत्वाधान में वे तीज-त्यौहारों के समय अपने भक्तजनों को शुभ-कामनाएँ भेजते हैं। मुझे भी सन् 1983 की शिवरात्रि (कश्मीरी पण्डितों का प्रमुख धार्मिक त्यौहार) पर एक कार्ड मिला जिसमें उनके समस्त आध्यात्मिक दर्शन का सार मिलता है। अपने आपको पहचानने के लिए यह एक दीक्षा है। ऋषियों द्वारा प्रतिपादित यह बेजोड़ दर्शन जिसे भाईजी प्रयोग में ला रहे हैं। मन को एकाग्र करने—ध्यान-मग्न होने आदि जैसे परम्परागत विधानों—'श्रेय' और 'प्रेय' को भी नहीं मानते। वे कहते हैं कि अपने आपको कष्ट मत दो। उन्होंने एक बार मुझसे कहा "बहुत देर तक किसी निश्चित मुद्रा में बैठकर अपने को कष्ट मत दो। किसी निश्चित बिन्दु जैसे नाक के अग्र-भाग या तथाकथित तीसरी आँख पर एकाग्र चित्त होने की कोई आवश्यकता नहीं। जब भी फुरसत हो अपने बिस्तर पर आराम से लेट जाओ और कुछ भी मत सोचो, एक मानसिक शून्य का निर्माण करो और तुम धीरे-धीरे आगे बढ़ोगे। हमें सभी विचारों, स्वप्नों, आवाजों आदि से अलग हटकर अपने मन को लगाम लगानी चाहिए क्योंकि आध्यात्मिक पथ पर बढ़ने से ये ही तत्व बाधा उपस्थित करते हैं।" अपने इस सिद्धान्त को भाई जी 'अध्यनात्मक ध्यान' कहते हैं।

अपने सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट कहते हुए एक बार उन्होंने हमें समझाया—"क्या हम आसमान में चमकते तारे को मार गिरा सकते हैं ? नहीं, कभी नहीं । तब हम और अधिक सरल निशाना क्यों नहीं चुनते, अपने सिर के ऊपर चमकती बिजली की बत्ती । अर्थात् परम्परागत ध्यान मार्ग को अपनाने से हम प्रयास करते हैं कि हम आसमान के तारे को मार गिराएँ जो कि लगभग असम्भव है—हाँ यह तभी सम्भव हो सकता है जब पूर्वजन्मों के फलस्वरूप हम सचमुच में अचूक निशानेबाज हों नहीं तो हमसे प्रायः निशाना चूक जायेगा । हमें तो नजदीक के निशाने से शुरू करके धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए । 'अध्यानात्मक ध्यान' निकट के निशाने को मारकर धीरे-धीरे आगे बढ़ने का मार्ग है । सच तो यह है कि हमें निशानेबाजी का ज्ञान छोड़कर एक स्वच्छन्द जीवन जीना चाहिए । अपने जीवन की किश्ती को धार के हवाले कर देना चाहिए वह स्वयं गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाएगी । हमें प्रकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करना चाहिए । जीवन की परिस्थितियों और अनुभवों को सहज रूप से बढ़ने का अवसर प्रदान करना चाहिए । गन्तव्य स्थान पर पहुँचना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, भले ही आप प्रयास करें या न करें । विधाता ने पहुँचना निर्धारित किया है—आज पहुँचें या कल—हो सकता है इस जन्म में, अगले जन्म में या अन्य अनेक जन्मों के बाद, लेकिन पहुँचना तो है । विधाता द्वारा सुनिश्चित पथ को छोड़कर सरल उपायों द्वारा पहुँचना असम्भव है ।"

(8)

एक दिन जब हम 'अध्यानात्मक ध्यान' और उपरोक्त शिवरात्रि शुभ सन्देश पर बात कर रहे थे तो भाईजी ने कहा मैंने अपने एक राही मित्र को भी यह कार्ड भेजा था तो उसने जवाब में लिखा कि उसे मेरा शुभकामना सन्देश बहुत अच्छा लगा । उसने लिखा कि इसे पढ़कर उसे महान् दार्शनिक श्री जे० कृष्णामूर्ति याद आ गए, जिन्होंने अपनी एक सभा में किसी भक्त के यह पूछने पर कि ध्यान किससे कहते हैं, के जवाब में कहा था—ध्यान वहाँ है जहाँ तुम नहीं हो ।

महान् दार्शनिक की यह परिभाषा भाईजी की परिभाषा से पूरी तरह

मेल खाती है। इससे हम शून्य की स्थिति में आना सीखते हैं जहाँ से हम आत्म-विस्मृत होकर महाशून्य की गोद में अपने आपको अन्ततः पहुँचा सकते हैं।

श्री जे० कृष्णामूर्ति द्वारा लिखित साहित्य को पढ़ते-पढ़ते मुझे ध्यान के सम्बन्ध में उनकी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिभाषा हाथ लगी—वे कहते हैं "ध्यान का उद्देश्य यह जानना है कि अपने सम्पूर्ण क्रिया-कलाप और अनुभवों के होते हुए भी क्या मस्तिष्क पूरी तरह शान्त हो सकता है। बलपूर्वक नहीं क्योंकि आप ज्यों ही बल का प्रयोग करते हैं त्यों ही द्वैत का जन्म होता है। जो व्यक्ति यह कहता है मैं चमत्कारपूर्ण अनुभूतियों से गुजरना चाहता हूँ इसलिए मुझे मस्तिष्क को बलपूर्वक शान्त करना चाहिए—वह ऐसा कभी नहीं कर सकता। लेकिन यदि आप विचारों की गति के दर्शक और जिज्ञासु बनें उनके बनने बिगड़ने, उनके भीतर से उठने वाले खौफ और आनन्द का अनुशीलन करें—जानें कि मस्तिष्क इस प्रकार काम करता है उसकी गति से अवगत हों, तब आप देखेंगे कि मस्तिष्क किस तरह अद्भुत रूप से शान्त हो जाता है—एक ऐसी शान्ति जो निद्रा नहीं है अपितु अध्यधिक रूप से क्रियात्मक होने के कारण शान्त है। एक विशाल शक्ति-स्रोत जो निर्बाध रूप से कार्यरत है, जरा सी भी आवाज नहीं आती—आवाज तो तभी आती है जब घर्षण हो—बाधा हो।

परम्परागत मार्गों से हटकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के इस दार्शनिक द्वारा बताया गया यह सिद्धान्त भाईजी के सिद्धान्त से कितना मेल खाता है।

(9)

एक बार भाईजी ने अपनी ऋषिकेश यात्रा के बारे में बताया। बहुत पहले वे अपने परिवार के साथ यात्रा पर गये थे। जब वे हरिद्वार पहुँचे तो उन्होंने एक धर्मशाला में अलग कमरा लेने का प्रयास किया जो सम्भव न हो सका इसलिए वे ऋषिकेश चले गये। ऋषिकेश में जैसे-तैसे केवल तीन दिन के लिए एक कमरा मिला।

एक दिन धर्मशाला के महन्त की प्रार्थना सभा में वे शामिल हुए। सभा में उस दिन का उपदेश था कि मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग जाने का शास्त्रोक्त मार्ग क्या

है। महन्त जी शास्त्र की किसी पुस्तक से पढ़-पढ़कर समझा रहे थे। उपदेश की समाप्ति पर, जैसा कि होता ही है, महन्त जी ने सभा से प्रश्न करने को पूछा। भाई जी ने एक प्रश्न किया, 'महाराज आपके उपदेश का अर्थ यह है कि जो लोग वैदिक धर्म का अनुसरण करते हैं, उनके लिए स्वर्ग में स्थान सुरक्षित रहता है। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि जो हिन्दू नहीं हैं और जो इस धर्म का अनुसरण नहीं करते वे स्वर्ग में घुस नहीं सकते ? क्या स्वर्ग केवल हिन्दुओं के लिए आरक्षित है ? महन्त ने जवाब दिया "मैं जो कह रहा था उसे आप समझ ही नहीं पाये।" भाई जी ने कहा "हाँ महाराज इसीलिए तो पूछ रहा हूँ।"

इस तरह के प्रश्न से महन्त हड़बड़ा गया और उसने कहा "आप बाद मैं आइए, आपको मैं अलग से समझाऊँगा।" सभा विसर्जित हुई और भाई जी ने कमरे में लौटकर अपना सामान बाँधना शुरू किया। घर वालों के पूछने पर उन्होंने कहा कि महन्त जी नाराज हो गए हैं और वे हमें अभी जाने को कहेंगे—थोड़ी देर में चौकीदार ने आकर कहा "रहने का समय समाप्त हो गया, महन्त जी ने कमरा खाली करने को कहा।" भाई जी ने जवाब दिया "हाँ भाई हम तो यही कर रहे हैं" और तत्काल कमरा छोड़ दिया।

घटना का व्यौरा देते हुए भाई जी ने हमें समझाया—"धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करना तो जीने का एक तरीका है। आध्यात्मिकता धर्म से भिन्न है। यह तो आत्मज्ञान की एक सार्वलौकिक प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या किसी अन्य धर्म का हो, उसको शरीर और उसकी अन्तात्मा इस मार्ग का अनुसरण करती है। यह तो एक ऐसा मार्ग है जो किसी भी व्यक्ति के लिए—जो इस पर चलना चाहे, सर्वदा खुला रहता है। 'अध्यानात्मक ध्यान' पर चलो भले ही तुम्हारा कोई भी धर्म हो, पर तुम्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी। आत्मा एक है और सार्वलौकिक है—यह न तो हिन्दू है और न ही इसका कोई अन्य धर्म है।"

(10)

भाई जी ने एक बार अपने तीन पुराने रोचक किस्से सुनाये—उन्हीं के शब्दों में, "बहुत दिन पहले की बात है जब मैंने बी० एस-सी० किया था—

मैं एक प्रसिद्ध सन्त के पास गया जो 'ग्रटबब' नाम से लोकप्रिय था। उन्होंने मुझे कागज का एक टुकड़ा दिया और कहा मुझे 40 रुपये प्रति मास के वेतन पर नौकरी मिलेगी। मैंने कागज का टुकड़ा रख लिया और चला आया। कुछ समय बाद मुझे पोस्ट ग्रेजुएशन के लिए 40 रुपये प्रति मास की छात्रवृत्ति मिली।

कई वर्ष बाद मैं एक बार फिर 'ग्रटबब' से मिलने गया—सोचा कि इस बीच वे आध्यात्मिक मार्ग पर और अधिक आगे बढ़ गए होंगे। लेकिन इस बार उनका व्यवहार मुझे बड़ा विचित्र लगा। वे पाँच रुपये और दस रुपये मूल्य के हिसाब से प्रसाद बाँट रहे थे। यदि किसी भक्त के पास केवल पाँच रुपये होते तो वे झट से दस रुपये वाला प्रसाद उसके हाथ से छीन कर पाँच रुपये वाला थमा देते। मुझे बड़ी निराशा हुई और मैंने सोचा कि यह सन्त भ्रष्ट हो चुका है। साथ ही मुझे ध्यान आया कि जब सन् 1948 में पाकिस्तानी हमलावरों ने उन्हें उनके मकान की ऊँची खिड़की से बाहर फैंक दिया था तो उनको जरा सी भी चोट नहीं आयी थी।" घटना को आगे सुनाते हुए भाई जी ने कहा, "मैंने सोचा कि इन्हें आज यह क्या हो गया है यह तो दुकानदार हो गए हैं और प्रसाद बेच रहे हैं। इसके बाद जब उपस्थित लोग चले गए तो उस सन्त ने मुझ से कहा—मैंने उनसे कुछ नहीं कहा था, मैं तो केवल सोच रहा था, अरे भई हमलावरों ने मुझे ऊपर की मंजिल से नहीं, निचली मंजिल से फैंका था इसलिए मुझे कोई चोट नहीं आई--इस प्रकार मेरी दूसरी शंका का समाधान हुआ। पहली शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा—लगता है मुझे अभी बहुत दिन जीवित रहना है, करने को कुछ नहीं है सो इस तरह से वक्त गुजार रहा हूँ। तब मुझे पता चला कि वे अपने भक्तों से मजाक करते थे—उन्हें पैसे की क्या आवश्यकता थी, पैसा वहीं रखा रहता शायद उन भक्तों के लिए जिन्हें उनकी आवश्यकता होती।"

भाई जी को इस प्रकार पता चला कि 'ग्रटबब' कितने ऊँचे स्थान पर पहुँच चुके थे। यहाँ यह कहना आवश्यक समझता हूँ—विशेषकर उन नवयुवकों के लिए जिन्होंने 'ग्रटबब' को देखा जाना न हो, कि 'ग्रटबब' कश्मीर के महान्-तम सन्तों में से एक हैं। सामान्य एवं साधारण से व्यक्तित्व वाले 'ग्रटबब' एक चमत्कारी महापुरुष थे जिन्होंने अपने भक्तों की सहायता के लिए अनेक-अनेक चमत्कार किये।

उसी दिन भाई जी ने एक और रोचक घटना सुनाई। इसका सम्बन्ध कश्मीर के एक और महान सन्त के साथ था—जिन्हें लोग 'नन्दबब' के नाम से जानते थे। भाई जी के एक मित्र जो 'नन्दबब' के भक्त थे कई बार नन्दबब से मिलने के लिए भाई जी को प्रेरित कर चुके थे। उस मित्र ने प्रायः नन्दबब की आध्यात्मिक महानता के विषय में बात की थी। एक बार नन्दबब बीमार हुए और उन्हें एक निजी अस्पताल में दाखिल किया गया। भाई जी के मित्र अस्पताल जा रहे थे तो वे उन्हें भी साथ ले जाना चाहते थे ताकि वे उनका परिचय नन्दबब से करा दें। भाई जी तैयार हुए और दोनों अस्पताल चले गए। आगे भाई जी ने कहा, "जब हम अस्पताल के उस कमरे में घुसे जिसमें वे सन्त बिस्तर में लेटे थे तब इससे पहले कि मेरे मित्र मेरा परिचय कराते, नन्दबब ने मेरा स्वागत किया और बिस्तर के पास अपने निकट बैठने का मुझसे आग्रह किया। मे मित्र को आश्चर्य हुआ। बाद में नन्दबब ने मुझे उस मित्र को समझाने के लिए कहा कि वह इतना गर्म न खाए कि उसका मुँह ही जल जायें।" नन्दबब की इस बात को समझाते हुए भाई जी ने कहा, "उनका मतलब था कि मेरा मित्र आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर पहुँचने की जल्दी में है और यह सम्भव नहीं है क्योंकि मेरा मित्र उस स्थिति में नहीं था। आध्यात्मिकता जल्दबाजी का विषय नहीं है यह तो धीमी किन्तु निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है।"

इस रोचक घटना से यह स्पष्ट होता है कि भाई जी उस समय स्वयं आध्यात्मिक मार्ग पर कितने आगे थे। उनके मित्र को इस बात का दम्भ था कि वे भाई जी का परिचय नन्दबब से कराकर उन्हें अनुग्रहीत करेंगे। उन्हें क्या मालूम था कि सशरीर न मिले हुए होने पर भी भाई जी और नन्दबब एक-दूसरे के कितने निकट थे वस्तुतः सन्तों को एक-दूसरे से क्या परिचय कराना। वे तो एक-दूसरे से मिले ही होते हैं—अन्तः बाह्य से। इस मित्र को बाद में यह पता चला होगा कि भाई जी आध्यात्मिक मार्ग में कितने आगे थे। देखा जाय तो उन्होंने कोई गलती भी नहीं की थी। भाई जी एक सामान्य गृहस्थ से दिखते हैं, वे अपने परिवार के साथ रहते हैं, उनकी पूरी खोज-खबर रखते हैं और गृहस्थ के सभी धर्मों को निभाते हैं। वे सदैव एक सामान्य से व्यक्ति का व्यवहार करते हैं। प्रत्येक जान-पहचान वाले से उनका व्यवहार इतना स्नेहशील होता है कि प्रत्येक जान-पहचान का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें अपना

निकटतम मित्र समझता है—अतः उस मित्र ने इन्हें समझने में कोई गलती नहीं की, उन्होंने भाई जी के सामान्य स्वरूप के आधार पर ही उन्हें मूल्यांकित किया। लेकिन जो उन्हें जरा और नजदीक से जानते हैं उन्हें उनके आध्यात्मिक स्तर का ज्ञान होता है—आस-पास के माहौल में सशरीर डूबे रहते हुए भी वे उससे कितने ऊपर हैं।

उनका लगाव उतना ही शक्तिशाली है जितना कि अलगाव। सामान्य रूप से वे बहुत ही मशगूल आदमी हैं जो लगभग हर समय सांसारिक काम-काज में लीन रहते हैं। कभी आप उनसे पूछें कि आप कहाँ थे तो प्रायः वे यहीं कहते हैं कि अमुक काम के लिए वे घर से सवेरे ही चल दिए थे और रात को काफी देर से लौटे और ऐसे अत्यन्त व्यस्त दिन बहुत सारे होते हैं। वे आपसे मिलने का वादा तो करते हैं पर गृहस्थ के किसी न किसी झंझट के कारण वादा निभा नहीं पाते। इसी व्यस्तता के बीच वे अचानक किसी-न-किसी यात्रा पर चल देते हैं—घर वालों से पूछिए तो उन्हें मालूम नहीं कि वे कहाँ गए हैं और कब लौटेंगे। देखा जाए एक सामान्य व्यक्ति के लिए तो यह असामान्य सा व्यवहार है—पर इतना मशगूल रहते हुए भी वे सभी कुछ के प्रति एक गहरी अलगाव की भावना से जीते हैं।

(11)

भाई जी कहते हैं कि घरेलू काम-काज के बीच, मशगूल रहते हुए भी ध्यान-मग्न रहना चाहिए। वे किसी खास तरह की मुद्राओं, कसरतों—लम्बे समय तक पालथी मारकर बैठे रहने, अपने शरीर को कष्ट देने आदि के पक्ष में नहीं हैं। 'अध्ययनात्मक ध्यान' नामक जिस दर्शन को वे मानते हैं वह तो एक ऐसा जीवन है जो सामान्य घरेलू जिन्दगी सामाजिक और अन्य सभी प्रकार की समस्याओं से जूझते रहने की जिन्दगी है। वे मानते हैं कि सामान्य जीवन जीना और प्रकृति की धारा के साथ बहते रहना ही ध्यान है। श्री जे० कृष्णा मूर्ति ने भी ठीक ऐसा ही कहा है "ध्यान सामान्य जिन्दगी से भिन्न नहीं है। कमरे के किसी कोने में जाकर दस मिनट ध्यान करना ध्यान नहीं है, ध्यान तो हर समय—दफ्तर में, परिवार के बीच, उस समय भी जब आप किसी से कहते हैं "मैं तुमसे प्यार करता हूँ" और जब आप अपने बच्चों का ध्यान

रखते हैं। परम्परागत ध्यान मार्गों तथा शा त्रों और विभिन्न दर्शनों में कहे गए ध्यान नियमों से यह मार्ग एकदम अलग है।

एक दिन इसी विषय पर बात करते-करते भाई जी ने आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए मुझसे शुभ वचन कहे—परम्परागत रूप से जिसे 'दीक्षा वचन' भी कहते हैं। उन्होंने कहा "शब्द हैं 'तो फिर' " इन दो शब्दों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा "जिन्दगी में जो कुछ भी होता है हमेशा अपने आप से पूछो 'तो फिर ?'—कोई विपत्ति आती है तो अपने-आप से पूछो "तो फिर', लॉटरी में लाख रुपया मिलता है तो अपने-आप से पूछो 'तो फिर' ? संक्षेप में वे कहना यह चाहते हैं कि जीवन की विभिन्न घटनाओं को आवश्यकता से अधिक महत्व मत दो। यह सब कुछ तो होता ही रहता है—इसे होते रहने दो। इसी प्रकार के व्यवहार से तुम आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ोगे और तुम्हें आनन्द की प्राप्ति होगी।" बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने सिकन्दर महान् की मिसाल दी। संसार विजय करने के पश्चात् सिकन्दर ने अपने गुरु अरस्तु के सामने दम्भपूर्वक कहा कि उसने संसार जीत लिया—अरस्तु ने जवाब दिया 'तो फिर' ? क्या तुमने अपने-आपको जीत लिया है ? भाई जी का कथन है कोई भी प्राप्ति बहुत बड़ी नहीं है और कोई भी हानि बहुत भारी नहीं है। जीवन की विभिन्न घटनाओं को बहुत अधिक महत्व मत दो, सामान्य रहो, सामान्य जियो। एक आनन्दमय जीवन जीने का दर्शन भाई जी का यही है।

(12)

एक दिन शाकाहारी अथवा मासाहारी रहने पर बहस चली। मैं जानना चाहता था कि क्या आध्यात्म के मार्ग पर शाकाहारी रहना ज्यादा ठीक है। भाईजी ने उत्तर दिया कि कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। अच्छा यही है किसी चीज का आग्रह न हो। बात को आगे समझते हुए, उन्होंने कश्मीर के एक महान् सन्त—जो हाल ही में स्वर्गवास हो गये थे, के बारे में कहा—"स्वामी रामजी बहुत बड़े सन्त थे। वे मूल रूप से पुरोहित थे और मासाहारी। एक दिन जब वे किसी धार्मिक अनुष्ठान के बाद घर लौट रहे थे तो एक पुल पार करते हुए वे अचानक समाधि में लीन हुए। उसके बाद से वे

कभी घर से बाहर नहीं गए और एक महान् सन्त बने। भक्तजन उनके यहाँ आशीर्वाद के लिए आने लगे। किसी भी नये आगन्तुक से वे पूछते कि क्या वह शाकाहारी है—यदि ऐसा होता तो वे उसे अपने समकालीन एक शाकाहारी सन्त के पास भेज देते। ये शाकाहारी सन्त, स्वामी कैलाश जी, एक उच्च कोटि के महात्मा थे। वे मासाहारी भक्तों को स्वामी रामजी के पास भेजते। इस प्रकार ये दो सन्त खाने की आदतों के आधार पर भक्तों को चुनते और एक-दूसरे के पास भेजते रहते।

भाई जी ने इस घटना से मुझे यह समझाना चाहा कि खाने की आदतों से कोई फर्क नहीं पड़ता। वे स्वयं कुछ देर के लिए शाकाहारी थे परन्तु ऑपरेशन के पश्चात् डॉक्टरों की सलाह पर वे मासाहारी बने। उन्होंने इस परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार किया क्योंकि उन्हें लगा कि उनके स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है। भाईजी इस मामले में कट्टरपंथी नहीं हैं। देश के अनेक सन्तों ने विशुद्ध शाकाहारी रहने पर काफी बल दिया है—लेकिन कश्मीर में एक नहीं अनेक मासाहारी महान् सन्त हुए हैं जिनकी तुलना सहज ही अन्य किसी भी शाकाहारी सन्त से की जा सकती है। भाईजी अतिवादी नहीं हैं। वें सामान्य व्यवहार और सहज पथ के अनुगामी हैं। जो भी पसन्द हो, आवश्यक हो या मिले उसे बिना किसी पूर्वाग्रह के खा लो। जैसी भी परिस्थिति हो वैसा ही खाना पीना चाहिए। किसी प्रकार के डर या खौफ से व्यक्ति को ग्रस्त नहीं होना चाहिए। विधाता सब कुछ देखता समझता है—हम परेशान क्यों हों।

यह एक ऐसा दर्शन है जिसके अन्तर्गत हम अनेक प्रकार की ओढ़ी गई उलझनों से मुक्त हो जाते हैं। हम अपने बच्चों के लिए परेशान होते हैं—उनकी पढ़ाई, कैरियर, विवाह, अपने मकान, साधन, धन इत्यादि इत्यादि। जाने किस-किस के लिए हम अपने को उलझन में डालते हैं। हमें इन सब उलझनों से मुक्त रहना चाहिए क्योंकि यह तो विधाता की जिम्मेदारी है और वह इन्हें खूब निभाता है। उसे हमारी जरूरतों और मुश्किलों का पूरा ज्ञान है, आवश्यकता है तो इतनी कि हम एक ऐसा रुख अपनाएँ जिसके अन्तर्गत हम सभी आवश्यकताओं—उलझनों को विधाता को सौंप दें और स्वयं मुक्त होकर जिएँ। लोग यह कह सकते हैं कि इस प्रवार से तो लापरवाह हो जायेंगे पर

ऐसा नहीं है । सच तो यह है कि व्यक्ति एक ऐसी मुक्तावस्था में आ जाता है जिससे समस्त उलझनों का समाधान हो जाता है । व्यक्ति यदि समस्त स्थितियों से अपने को अलग कर सके तो भाईजी विश्वास दिलाते हैं कि विधाता सहज रूप से सब कुछ सँभाल लेंगे । प्रयोग के लिए यह एक ऐसा दर्शन है जो अहं-कार से मुक्त कराकर व्यक्ति को आत्म-ज्ञान और आत्मानन्द की ओर ले जाता है ।

(13)

आत्मज्ञान और विधाता पर पूर्ण विश्वास व्यक्ति को काफी ऊँचा उठाता है । महान् व्यक्ति महान् कर्म करते हैं । उनकी महानता का आभास हम जैसे सामान्य व्यक्तियों को यदा-कदा ही होता है । हम जैसे सामान्य व्यक्तियों के लिए शायद इतना ही काफी है कि हमें उनका सामीप्य प्राप्त हो । ऊपर मैंने भाईजी के ऑपरेशन की बात की है । जिस डॉक्टर ने अपनी मर्जी के खिलाफ केवल भाई जी के कहने पर यह ऑपरेशन किया था, उसने एक दिन मुझसे फोन पर इच्छा व्यक्त की कि वह भाई जी से मिलना चाहता है । मैंने भाईजी से पूछा तो उन्होंने कहा "नहीं भाई, वह क्यों आयेगा, उसने मुझे जीवनदान दिया है, मैं ही उससे मिलने जाऊँगा ।" समय निश्चित हुआ और मैं भाईजी के साथ डॉक्टर के यहाँ पहुँचा । डॉक्टर और उनके परिवार ने श्रद्धापूर्वक भाईजी का स्वागत किया । चायपान के बाद डॉक्टर और उनकी पत्नी ने अपनी समस्या बताई । उनकी लड़की को 'प्रीमेडिकल' में बहुत अच्छे अंक मिले थे लेकिन फिर भी उसे मेडीकल सीट मिली नहीं थी । लड़की भी वहीं थी—बेहद दुःखी । डॉक्टर और उनकी पत्नी ने लड़की के मेडीकल में दाखिले के लिए भाईजी से आशीर्वाद माँगा । भाईजी ने आशीर्वाद दिया—डॉक्टर और उनकी पत्नी ने रोते-रोते भाईजी को विदा किया । भाईजी ने उन्हें सांत्वना दी ।

कुछ महीने बीत गये । मैंने पूछा भी नहीं—सोचा भाईजी ने दुःखी परि-वार को सांत्वना दी और मामला यहीं समाप्त हुआ । लेकिन उस दिन मेरे आश्चर्य की थाह नहीं थी, जब एक दिन भाईजी ने मुझे बताया कि राज्य से बाहर उस लड़की का दाखला मेडीकल में हो गया है—भाईजी ने कर्ज उतार दिया था, मैं सोचता ही रह गया ।

(14)

भाईजी के अनुसार अध्यात्म-मार्ग धार्मिक वन्धनों, कर्मकाण्ड और पूर्वाग्रहों से परे है। यह मार्ग तो मुक्ताकाश सा है—सांसारिक वन्धनों और उलझनों से रहित एक ऐसा स्वच्छन्द जीवन जहाँ मन हवा की भाँति हल्का, दिल पूर्वाग्रह रहित अच्छे और बुरे को समान दृष्टि से देखने वाला हो। एक वार एक जैन मुनि भाईजी के पीछे पड़ गये कि वे उसे दीक्षा दें। भाईजी ने छुटकारा पाने की काफी कोशिश की, पर जैन मुनि ने छोड़ा ही नहीं। जव भाईजी को यह लगा कि जैन मुनि उन्हें नहीं छोड़ेगा तो उन्होंने छुटकारा पाने का एक सरल मार्ग अपनाया। भाईजी ने मांस का एक पकवान मँगवाया और यह सुनते ही जैन मुनि भाग खड़ा हुआ।

घटना का अर्थ स्पष्ट है भाईजी समझाना यह चाहते हैं कि जो व्यक्ति इस प्रकार के पूर्वाग्रहों से अपने को मुक्त नहीं करा सकता, वह आध्यात्मिक मार्ग पर क्या खाक चलेगा। वे मानते हैं कि व्यक्ति की सवसे वड़ी शक्ति उसका निर्विकल्प मन है। इस सम्वन्ध में उन्होंने एक दिन कहा "व्यक्ति के लिए स्वच्छ मन के अतिरिक्त कोई और मुलायम तकिया हो ही नहीं सकता।" मानसिक शान्ति निर्विकल्प मन ही वास्तविक ध्यानावस्था है।

(15)

भाईजी के पुत्र 'आर' से एक वार काफी लम्वी वातचीत हुई। उसने अपने श्रद्धेय पिता के सम्वन्ध में कुछ घटनाओं का वर्णन किया। घटनाएँ कुछ ऐसी हैं जिनसे भाईजी की महान् आध्यात्मिक शक्ति का भरपूर एहसास होता है।

भाईजी का परिवार श्रीनगर में था। भाईजी, उनका नौकर और सौभाग्यशाली 'आर' जम्मू में थे। हमेशा की तरह हर शाम भाईजी भक्तजनों से घिरे रहते थे। श्री 'आर' के ही शब्दों में आगे कहूँ तो उचित रहेगा। श्री 'आर' ने कहा—"एक शाम नौ वजे करीव नौवर ने आकर मुझसे कहा कि भाई जी के कमरे में एक विचित्र दृश्य मैंने देखा है, आप भी चलकर देख लीजिए। मैंने झाँककर देखा तो सव कुछ विचित्र सा था—आज तक मैंने ऐसा इनके कमरे में होते नहीं देखा था। सभी भक्तजन एक अजीव से नशे में भाईजी के इर्द-

गिर्द नाच रहे थे—वे सब इस संसार में थे ही नहीं, उन्हें इस बात का भी ध्यान न था कि क्या उन्होंने कपड़े पहने भी थे या नहीं। मैं सचमुच हैरान था और अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था।" दयालु गुरु की कृपा से वे सभी भक्तजन उल्लास की दशा में—'हाल' की अवस्था में पहुँच कर अपने वस्त्रों का त्याग कर चुके थे। गुरु कृपा से उल्लास में आकर वे अपने गुरु द्वारा बजाई गई सूक्ष्म धुन पर बेकाबू नाच रहे थे—आनन्द की एक ऐसी अवस्था जहाँ वे अपने को, संसार को—सभी को भूल चुके थे।

इस सबका गौरव इस महान् गुरु को जाता है जिसने इन भक्तों की आत्माओं को आनन्द के इस स्तर तक लाया। सच तो यह है गुरु चाहे, तो कुछ भी कर सकता है—केवल आवश्यकता है भक्त के सौभाग्य की। मुझे भगवान रामकृष्ण परमहंस की याद आती है। एक बंगाली अध्यापक, महेन्द्रनाथ गुप्त ने गहरी श्रद्धा और भक्ति से अभिभूत होकर परमहंस जी के विषय में 'द ग्रेट गॉसपेल' नामक पुस्तक में ऐसी ही एक घटना का वर्णन किया। वे लिखते हैं कि भगवान रामकृष्ण परमहंस कभी-कभी जब वे अपने शिष्यों से घिरे रहते, अचानक खड़े होकर मन्त्रपाठ करते और उनके शिष्य उल्लास की अवस्था में आकर उनके इर्द-गिर्द नाचने लगते। वे तब तक नाचते रहते जब तक कि उनके गुरु खड़े-खड़े ही समाधिस्थ होते और तब वे उनको सहारा देकर सम्भालते। वास्तव में ऐसी अनुभूतियाँ तो सौभाग्यशालियों को ही प्राप्त होती हैं। ये तो गुरु की कृपा और शिष्य के भाग्य का आनन्दमय समन्वय है।

दूसरी घटना जो श्री 'आर' ने सुनाई उसका सम्बन्ध भाईजी की भविष्य दृष्टि से अधिक और, भक्ति से कम है। श्री 'आर' के शब्दों में—"बहुत दिन पहले जब मैं एक विद्यार्थी था तो एक दिन भक्तजनों की शाम की सभा में मुझे बुलाया गया। उपस्थित भक्तों में एक भक्त जौहरी था। पिता जी ने उस भक्त जौहरी से मेरी उँगली का नाप लेने को कहा और एक विशेष प्रकार के पत्थर को जड़वाकर मेरे लिए एक अँगूठी बनाने का आदेश दिया। मेरी समझ में कुछ नहीं आया कि यह सब क्यों और किस लिए हो रहा है। कुछ दिन बाद सोने की अँगूठी आ गई और पिता जी ने उसे उस मूर्ति के सामने रखा जिसकी वे पूजा करते हैं। अँगूठी को वहाँ रखे-रखे दिनों बीत गये। मेरी बेचैनी बढ़ती गई। मन में आया कि उठा लूँ पर हिम्मत नहीं हुई। अन्ततः

एक दिन मुझसे कहा गया कि मैं यह अँगूठी पहन लूँ। मेरा मन बच्चों की सी खुशी से भर उठा। उन दिनों बहुत कम भाग्यशालियों को सोने की अँगूठी पहनने को मिलती थी। जो लड़के पहनते वे धनी परिवार के होते—आज मैं भी विशिष्ट कोटि के लड़कों में आ गया था।"

घटना को आगे सुनाते हुए 'आर' ने कहा—"कुछ दिन बाद हमारे कालेज में हड़ताल हुई। स्थिति बहुत गम्भीर हो रही थी, दूसरे कालेजों के लड़के भी हमारे साथ हो लिये। शहर में धारा 144 लागू हो गई और हमने इसका विरोध किया। मैं उन दिनों कुछ नेतागीरी करता था। धारा 144 के उल्लंघन में शहर के मुख्य बाजारों से हमने जलूस निकाला। हालात बिगड़ने लगे। पुलिस ने लाठियाँ बरसायीं और गोली भी चली। अपने कुछ सहपाठियों को गोली लगते देख मैंने पास की ही एक दीवार की आड़ लेकर भागने का प्रयास किया और जबकि मैं दीवार की दूसरी तरफ कूदने के प्रयास में था, मैंने गोली की आवाज सुनी और अपना सिर एक तरफ झुका लिया। मेरे सिर को निशाना बनाया गया था और अगर मैं सिर एक तरफ न करता तो गोली मेरे सिर को चीरती हुई निकल जाती—गोली मेरे सिर के पीछे एक हल्का सा घाव करती हुई किनारे से निकल गई थी। मैं नीचे गिरा और मेरे दोस्त ने मुझे उठाया और अस्पताल पहुँचाया। तब मेरी समझ में आया कि मुझे सोने की अँगूठी एक विशेष नग सहित क्यों पहनाई गई थी—अँगूठी ने अपना काम किया था, तभी अस्पताल में मेरे पिताजी मुझे देखने के लिए आ गये। वे अपने दफ्तर से अचानक—जाने किस अन्तर्ज्ञान से प्रेरित होकर मुझे ढूँढ़ते हुए अस्पताल पहुँचे थे।"

बात स्पष्ट है कि भाईजी को आने वाली विपत्ति का अन्तर्ज्ञान पहले ही हुआ था और उसे टालने का साधन उन्होंने अँगूठी को बनाया था। देखा जाय तो जन्मपत्री और हस्तरेखा देखने वाले लोग प्रायः इस तरह के उपाय बताते हैं। कहते हैं यह उपाय यदि सही ढंग से किए गये हों तो सार्थक सिद्ध होते हैं। यहाँ तो बात ही दूसरी है किसी ज्योतिषी ने 'आर' की जन्मपत्री नहीं देखी, न किसी ने उसके हाथों अथवा माथे की रेखाओं को पढ़ा। यहाँ तो अन्तर्ज्ञान से आने वाली विपत्ति का आभास हुआ और उसे टालने का साधन ढूंढ़ा गया। उच्चकोटि के सन्त वास्तव में इस प्रकार के अन्तर्ज्ञान के

मालिक होते हैं—लेकिन कहते, डराते-धमकाते नहीं, वे तो केवल विपत्तियों को टालने का मार्ग सुझाते हैं। सामान्यतया पिता के रूप में भाईजी का मन ऐसे अन्तर्ज्ञान सें—जिससे एक भारी विपत्ति आने वाली थी, विचलित हो उठते किन्तु वे सामान्य और शान्त बने रहे और उस साधन को जुटाया जिससे विपत्ति टाली जा सकती थी—विधाता से प्रार्थना करते रहे और अँगूठी को उचित व्यक्ति तक पहुँचाया।

भाईजी अपने समय के एक अच्छे सम्पन्न कश्मीरी पण्डित कुल से सम्बन्ध रखते हैं। इनका जन्म जनवरी 1920 ई० में महाशिव चतुर्दशी की रात को अपने पूर्वजों के मकान, जैनाकदल श्रीनगर में हुआ। स्वर्गीय प्रोफेसर जिलालाल कौल नाजिर के ज्येष्ठ पुत्र हैं। कश्मीर में स्वर्गीय नाजिर साहब के किसी परिचय की आवश्यकता नहीं, माने हुए विद्वान और विश्वसनीय इतिहास-ज्ञाता थे। सेवाकाल के दौरान प्रोफेसर साहब को श्रीनगर में ठहरने का अवसर कम ही मिलता था, अतः भाई जी का आरम्भिक पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा दादा पण्डित ऋषिकौल और चाचा पण्डित नीलकण्ठ कौल की छत्र-छाया में हुई। दोनों सद्विचार और सद्-व्यवहार के व्यक्ति थे। दादा साहब एक प्रसिद्ध सिद्ध लस-मत्तू के पट्ट-शिष्य थे और चाचा 'हालि' के भगवान गोपीनाथ के बड़े गुरु-भाई थे, अतः भाईजी की स्वाभाविक प्रवृत्ति बचपन से ही ऋषि-परम्परा और सन्त भावना से प्रेरित होती रही है। श्रीनगर में विरला ही कोई साधु-सन्त होगा जिनके पास भाईजी का आना-जाना या उठना-बैठना न रहा हो, और यह क्रम अब भी जारी है।

श्री प्रताप कालिज से बी० एस-सी० की डिग्री लेने के बाद ड्रग रिसर्च लेबॉरेट्री जम्मू में मुलाजम हुए और असाधारण योग्यता के कारण एक उच्च वैज्ञानिक के पद से 1979 ई० से सेवा निवृत्त हुए।

भाईजी एक विचित्र प्रकृति के व्यक्ति हैं। प्रकट में व्यवहार गृहस्थियों जैसा है, दैनिक कारोबार भी बिल्कुल सांसारिकों जैसा है, स्वभाव मगर संन्यासियों जैसा और विचार ऋषियों जैसे विकासात्मक। बोलने का ढंग साधारण, परन्तु कोई भी बात तात्पर्य हीन नहीं होती है। प्रकृति से ऐश्वर्य प्रिय होते हुए भी इनमें सन्तोष के तत्व विद्यमान हैं। गुण-प्रशंसा की कोई इच्छा नहीं और न कोई निन्दा प्रशंसा सुनने की परवाह। समझो कि योग-भोग युक्त संन्यस्त जीवन जी रहे हैं।

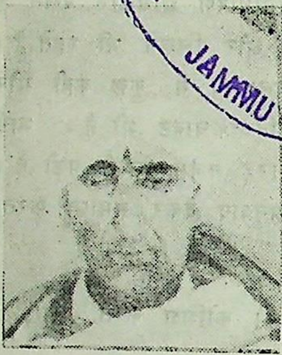
उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं पर असाधारण अधिकार रखते हैं और दोनों भाषाओं में लिखा भी है और लिखते भी रहते हैं। परन्तु सब अस्त-व्यस्त पड़ा है—एक अलमारी में, कुछ कहीं और कुछ कहीं। छपवाने की मन में कुछ हिचकिचाहट भी है। भाई जी कवि भी हैं। कश्मीरी में दस से बारह नजमें लिखी पड़ी है। यहाँ पर तीन 'मक्तों' (छन्दान्तों) का अनुवाद देकर समाप्त करता हूं। कहते हैं—

—नाज़िर मैंने बहुत को उड़ने की कोशिश करते देखा,
कुछ अन्धे थे कुछ बग़ैर पैरों के,
कुछ कहते थे वे अपने सांस की गरमी से चावल पका देते हैं,
कोई तो हमें बता दे हमारी लकड़ी जलाकर कहाँ गयी
चावल हम से पक न पाये।

—नाज़िर एक राज़ की बात आपको कहे देता है,
इसको सोच लो वरना बाद में पछताओगे।
आप कुछ भी न खो बैठे हैं
जो चीज़ आप ढूँढ रहे हैं वह आप खुद हैं
इसके इलावा आपको और क्या कहूं।

—नाज़िर ने मुहब्बत का सौदा बहुत सस्ता लिया
मगर अब बहुत महँगा मालूम पड़ता है,
बेचने को जी करता है, मगर क्या करूँ
दर्द तो है मगर इसके बग़ैर ज़िन्दगी का कोई मज़ा नहीं।

—आर० एन० रैणा
सोनवार, श्रीनगर।



स्वामी गोविन्द कौल साहिब जलाली

(1888 ई० से 1956 ई०)

इनका जन्म आलीकदल श्रीनगर में श्री कृष्ण कौल जलाली के यहाँ हुआ। तीन भाइयों में ये सबसे कनिष्ठ थे। इन के ज्येष्ठ भ्राता श्री आफताब कौल तन्त्र-विद्या के विशारद थे और इन्होंने ही दोनों भाइयों को स्वामी रामजी के यहां बचपन से ही लाना आरम्भ किया। स्वामी जी के सामीप्य में रहकर इन्होंने सारी शैवविद्या पढ़कर इसके अधिकारी विद्वान् बने। ये एक गृहस्थ साधु थे, फिर भी गृहस्थी से असम्पृक्त रहते थे। प्रतिदिन बारह से पाँच बजे तक स्वामी राम के आश्रम में रहते थे। कभी सप्ताहभर आश्रम में ही ठहरा करते थे। ये अपने विद्यार्थियों को हर समय अभ्यास में लगे रहने की शिक्षा देते थे, चाहे वे किसी कार्य में लगे हों। विद्यार्थियों को शैवशास्त्र पढ़ाते और समझाते थे। लोगों को खाना खिलाने में बहुत प्रसन्न रहते थे। आजकल भी इनका जन्मदिन और अन्तर्ध्यान-दिवस बड़ी श्रद्धा से मनाये जाते हैं। इन अवसरों पर अगणित लोगों को भोजन कराया जाता है।

भाईजी
श्री बी० एन० कौल नाजिर



भाई जी का जन्म 27 जनवरी 1920 महा शिव-चतुर्दशी की रात्रि को आलीकदल, श्रीनगर में हुआ।

भाईजी स्वर्गीय प्रोफेसर जियालाल कौल नाजिर के ज्येष्ठ पुत्र हैं। श्री प्रताप कालेज श्रीनगर से बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। ड्रग रिसर्च लेबाट्री, जम्मू मे नौकरी करते रहे तथा वहीं से सन् 1989 में वैज्ञानिक के उच्च पद से सेवा निवृत होकर, श्रीनगर में स्थायी रूप से रह रहे हैं। अंग्रेजी, उर्दू, और कश्मीरी भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार है।

आध्यात्मिक मार्ग पर बचपन से ही प्रवृत्त रहे हैं तथा कश्मीरी शैवमत के अधिकारी विद्वानों में इनकी गिनती होती है। कश्मीरी शैवमत पर काफी लिखते रहे हैं।